बुद्ध की सूक्तियां
मेरी अनुभूतियां

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

बुद्ध की सूक्तियां मेरी अनुभूतियां

मुनि छत्रमल्ल

स्वर्गीय श्री गुलाबचन्द जी बरडिया की पुण्य-स्मृति मे उनके सुपुत्र श्री रतनलाल कुन्दनलाल जतनलाल बरडिया, चूरू (राजस्थान) के अर्थ-सौजन्य से प्रकाशित।

मूल्य छह रुपये / द्वितीय सस्करण, १९८७ / प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान) / मुद्रक पवन प्रिंटर्स दिल्ली-११००३२

चिरजागृत, चिरपोषित,
सत्य, समता एवं समन्वय की
अनुसंधित्सा को

मुनि छत्रमल्ल

स्वकथ्यम्

तीर्थंकर श्रमण महावीर का भक्त 'बुद्ध की सूक्तियो मे जीवन दर्शन खोजे' यह एक उलझा हुआ प्रश्न हो मकता हे। इसका उत्तर भगवान महावीर की भाषा मे ही है—'**नाणापिंडरआ दता तेण वुच्चन्ति साहुणो**'[1]—नाना प्रकार की यथा-प्राप्त सामग्री मे सतुष्ट रहने वाला ही साधु है। यह सामग्री केवल भोजन की ही नही, विचारो की भी होनी चाहिए। साधक '**महुगार समा बुद्धा**'[2] होते है। जहा से भी जीवन को रस देने वाली विचार सामग्री मिलती है, उसे ग्रहण करने मे कभी सकोच नही करते। यहा तक कि—'**बालादपि सुभाषित**'[3] बालक से भी सुभाषित सीख लेते हैं। उन्हे गुण मे मतलब है। तथागत की भाषा मे '**अत्थेनेव मे अत्थो किं काहसि ब्यञ्जन बहु**'[4]—बहुत शब्दो से क्या करना है, हमे तो अर्थ (सार) से ही अर्थ (प्रयोजन) है। '**हमें फूलों से मतलब है, हमे काटों से क्या लेना।**'

महापुरुषो की ये सूक्तिया जन-जन की मार्गदर्शक रही है, मैंने इनके

---

१ दशवैकालिक, १/५

२ वही, १/५

३ मनुस्मृति, २/२१३६

४ विनयपिटक, महावग्ग, १/१७/६०

प्रकाश मे जो देखा है, अनुभव किया है, चितन-मनन किया है और जो कुछ प्राप्त किया है बस, वह इन सूक्तियो और अनुभूतियो' के माध्यम से व्यक्त किया है। दीये से दीया जला दिया है। इस प्रकाश का सदुपयोग करना पाठको के हाथ मे है। इत्यलम् !

कोठारी-भवन
विजयादशमी २०२०
उदयपुर

— मुनि छत्रमल्ल

अनुक्रमक

१ मेरे भगवान्

"**सच्च खु भयव**"[1] भगवान् महावीर ने कहा—'सत्य ही भगवान् है।' श्रद्धा की गाथा मे भक्त कहा करता है—'भगवान् की लीलाए असीम हैं।' मेरे मन मे आया, मैं भी मेरे भगवान् को सदा इसी तुला से तोलता रहू। क्योकि सत्य हमेशा असीम हुआ करता है। वह कभी भी ग्रन्थो, पन्थो और सन्तो की सीमा मे नही बधा करता। उसकी विराटता के दर्शन तो '**नष्टोमोह**'[2] वाला भक्त ही कर पाता है। बहुत से भक्त तो इस कूपमडूकता मे ही पडे रहते है कि जितना हमने समझा, उतना ही सत्य है, उससे परे कुछ है ही नही। पर मुझे तथागत बुद्ध की वह घटना याद आ रही है जो बताती है कि सत्य कितना विराट् है—

[3]"एक बार तथागत कौशाम्बी के निकट एक वन मे विहार कर रहे थे। वहा वे एक वृक्ष की कुछ पत्तिया हाथ मे लेकर बोले—

'भिक्खुओ! क्या सोचते हो? सख्या मे ये मेरे हाथ की पत्तिया अधिक हैं या इस वन की पत्तिया अधिक है?'

भिक्खुओ ने उत्तर दिया—'भगवन् सख्या मे आपके हाथ की अपेक्षा इस वन की पत्तिया बहुत अधिक है।'

तब तथागत ने समझाया, 'इसी प्रकार हे भिक्खुओ! जिन वस्तुओ को मैंने जाना और समझा है, वे इस वन की पत्तियो की तरह अधिक हैं। लेकिन मैंने तुम पर जो प्रकट किया है, वे हाथ की पत्तियो की तरह बहुत कम है।'

---

१ प्रश्न व्याकरण, २/२ सत्य द्वार

२ गीता, १८/७३

३ भारती, पृ० १३, फरवरी १९६३

वास्तव मे ही **गम्भीरतर महासमुद्दाओ**[1] 'सत्य महासमुद्र की तरह गभीर है।' सत्य मे विवाद तब खडा होता है, जब लोग उसके केवल एक ही पक्ष को पकड लेते हैं।[2] मूर्ख लोग सत्य के एक पहलू को देखते हैं, किन्तु पडित सत्य के सौ पहलुओ को देखता है।[3]

२ मा का हृदय

एक दिन मैं आहार से निवृत्त होकर बैठा ही था कि हल्की-सी झपकी आ गई। इतने मे 'भारत माता की जय', 'भारत माता की जय' के नारे लगाते हुए कुछ बालक उधर से गुजरे। उस आवाज से मेरी आख खुली और जिज्ञासा जगी—पुरुषवाची भारत शब्द को माता क्यो कहा गया? चिन्तन की तन्मयता मे मन को समाहित करने वाली एक घटना याद आ गई—

'एक कामुक युवक अपनी प्रेमिका के प्यार मे अन्धा हो गया। प्रेमिका **'दुष्टा कपटकोटीनां घटने सा पटीयसी'** ठहरी। एक बार के ही कटाक्ष से उसे बीधते हुए कह बैठी 'मुझसे ही यदि तुम्हे सच्चा प्रेम है तो पहले जाओ, अपनी मा का सिर ले आओ। फिर आगे की बात सोची जायेगी।'

उस कामाध ने आव देखा न ताव, माता की हत्या की और मस्तक लेकर अपनी प्रेयसी के पास चल पडा। हवा की गति से वह ज्यो ही आगे बढ रहा था, अकस्मात् गिर पडा। वह एक ओर गिरा, मस्तक दूसरी ओर।

ज्यो ही वह होश-हवास सम्हालकर खडा हुआ, एक ओर से आवाज सुनाई पडी — क्यो बेटा! चोट तो नही लगी? मेरे हाथ नही हैं, नही तो तुम्हारे मुख पर लगी मिट्टी पोछ देती।'

प्राण लूटने वाले कुलघाती हत्यारे के प्रति मा के मन मे कितनी ममता थी— चोट तो नही लगी।'

---

१ प्रश्न व्याकरण, २/२

२ उदान, ६/४

३ थेरगाथा, १/१०६

लगा—ऐसा, अहित करने वाले के प्रति भी मा के समान वात्सल्य के कारण ही पुरुषवाची 'भारत' शब्द 'भारत माता' बन गया। क्योकि मातृत्व ही जीवन है। आज भी जब मैंने यह नारा सुना 'भारतमाता की जय' तो मुझे तथागत बुद्ध का एक वाक्य याद आ गया— **'माता जिस प्रकार अपने स्नेह-सर्वस्व पुत्र को अपना जीवन दान करके भी पालती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति हमें असीम प्रेम रखना चाहिए।'**[1]

अब रहा प्रेम का स्वरूप। उस सम्बन्ध मे वीतराग की समता मे पगे एक कवि की ये पक्तिया पर्याप्त हैं—

'प्रेम राग से रजित मेरा, मानस भले बना हो।
पर सब पर हो राग एक-सा, थोड़ा औ न घना हो॥

३ अहं की मार

'अह' को जहा शब्द-साधको ने उत्तम पुरुष माना, वहा आत्म-साधको ने उसी उत्तम को अधम बनाने वाला जाना। 'अह' अह ही है, भले ही वह विधि-परक हो, या निषेध-परक। वह व्यक्ति को ऊर्ध्वगामी नही होने देता। प्रोफेसर रजनीश ने एक बार एक घटना सुनाई—'मुझे एक साधनारत सत के सम्पर्क मे आने का मौका मिला। बात के दौरान मे सत ने अनेक बार अह भरे शब्दो मे दुहराया 'मैंने लाखो की सम्पत्ति छोडी है और मेरा एक ऐश्वर्य सम्पन्न परिवार था।' इस प्रकार उनके प्रत्येक शब्द मे अह झलकता था।

यो ही कई बार उनके मुह से सुन लेने पर एक दिन मैं उनसे पूछ ही बैठा—'आपको साधु बने कितना समय हो गया ?'

'बीस वर्ष' अह की अकड मे उत्तर मिला।

मैंने निर्भीकता से कहा—'इतना लम्बा समय होने पर भी आप हैं तो वही, जहा पहले थे।'

'सो कैसे ?' मुनि झेपे-से बोले।

---

१ बुद्ध वाणी, २८/५

मैंने कहा—'पहले आप के मन मे यह अहं था कि मैं एक लक्षाधिपति हू, और अब यह अह आपको दबोच रहा है कि मैने लाखो की सम्पत्ति ठुकराई है। अह भाव मे क्या विशेष अन्तर आया ?'

मुनि तो मौन रहे, बोलते भी क्या ? अह की मार से ही विवश थे। पर मुझे इस घटना पर तथागत बुद्ध का यह वाक्य याद आ गया—'शान्त पद के जिज्ञासु व आत्म-हित-कुशल व्यक्ति को' निरहकार बनना चाहिए।'[1] अहकार और मेरे तेरे (परकार) के चक्कर मे पडने वाला अज्ञानी होता है।'[2]

४ कलह घर

'अमृत की बूदे' मे मैंने एक जगह लिखा है—

'जब हो जाता मनुज पर, क्रोध भूत असवार।
आख बद होती तुरत, खुलता मुख का द्वार॥'

अपेक्षा है, मानव मुख-द्वार खुलने और आख बन्द होने मे पहले विवेक से काम ले।

मैं एक बार एक महानगरी मे गया। वहा एक भक्त किसी समय झोपडी का वासी था। अब बगले का निवासी बन गया था। अच्छे से चौराहे पर एक विशाल कोठी बना ली थी। पर मानव-मन की सहज भूख या कमजोरी समझिए, वह अपने कार्य की औरो से प्रशस्ति सुनना चाहता है, उसके लिए वह छटपटाता भी रहता है। हर नवागन्तुक की तरह मुझे भी वह अपने यहा ले गया। ऊपर से नीचे तक घुमा-घुमाकर उसने अपनी सारी कोठी दिखाई। वह जगह-जगह अकित पट्टो पर मेरा ध्यान केन्द्रित कर रहा था, जिन पर लिखा था 'स्नान घर' 'शयन घर' 'रसोई घर' 'भोजन घर' 'विश्राम घर' 'अध्ययन घर'। यो कई अलग-अलग कमरे थे।

इतने मे देखा कि नौकर एक बच्चे को बरामदे मे स्नान करवा रहा था। बस फिर क्या था, हो गया पारा गर्म सेठ जी का और गुस्से मे

१ बुद्धवाणी, पृ० २७/१
२ उदान, ६/६

गालियों की बौछार करने लगे। अरे पागल, मूर्ख, अन्धा कही का ! बरामदे मे स्नान करवा रहा है ? वह स्नान-घर किसलिए बनवाया ?' यो बडबडाते न जाने क्या-क्या कह गये।

सडक तक मुझे पहुचाकर वापस जाने लगे तब मैने उनकी दुर्वासा की-सी प्रकृति को परिलक्षित करते हुए पूछ लिया—'सेठ जी ! और तो सारे घर बनवा लिये, परन्तु कलह-घर बनवाया या नही।' सेठजी झेपे और मेरी ओर देखते रह गये। मेरे मन मे आया इस विवेकी कहलाने वाले मानव ने कितनी गलत परम्परा बना रखी है। अन्यान्य सारे कामो के अलग-अलग घर बना रखे है और उन्हे यथास्थान निपटाना भी चाहता है। परन्तु लडाई-घर नही बनाया। अत लडना है जगह-जगह फिर-फिर ! कितनी बेहूदगी है ?'

आवश्यकता है, जब तक दिल और दिमाग ठडा है तब तक इस विषय मे उचितनिर्णय ले। क्योकि तथागत बुद्ध का यह वाक्य स्मरणीय है—'स्वच्छ पानी का बर्तन जब गर्म हो जाता है, तब उस पानी से भाप निकलने लगती है और वह खौलने लगता है। उस समय खौलते हुए पानी मे अपना प्रतिबिम्ब नही देखा जा सकता। उसी प्रकार जब मनुष्य क्रोधाभिभूत होता है, तब उसकी समझ मे यह नही आता कि उसका आत्म-हित किस मे है।'[१]

विवेकी मानव सदा याद रख ! तेरे पास लडाई-घर तो है नही, और अस्थान—गली कूचे व सडक पर लडना सभ्यता का परिचायक नही है।

५ अजीब पहेली

एक बार पाद-विहार मे हम लोग राष्ट्रीय मार्ग (नेशनल हाई वे) पर थे। अरावली की पर्वत मालाओ से घिरे पहाडी रास्ते मे उतार चढ़ाव तो था ही, कन्धो पर भार, ग्रीष्म का मौसम, पर्वत का चढाव—इस प्रकार सभी सयोग थकान के थे। हाफते-हाफते हम योही पहाड पर चढ़े। उधर से एक

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ३६/४

बस भेड-बकरियो की तरह यात्रियो को लादे आई और हमारे सामने ही रुकी। रुकते ही यात्री द्वार खोलकर, इस तरह से निकले, मानो वे एक बहुत बडी सकटकालीन स्थिति से गुजर कर सुख की सास ले रहे हो। आज के इस स्पूतनिक युग मे मूक पशुओ की-सी दयनीय दशा मे यात्रियो को देखकर मुझे कुतूहल हुआ। दिल मे अन्तर्ध्वनि उठ रही थी 'कितने दु खी हैं !'

इधर यात्री लोग रूमाल से हवा लेते, पसीना पोछते 'उफ' करते हुए हमारी ओर टेढी नजर से झाक रहे थे। उनकी भाव-भगी से लग रहा था—'आज के स्पूतनिक युग मे ये साधु पाद-विहारी और भारवाही बने फिर रहे हैं ! बेचारे कितने दु खी है। इन्होने इस युग मे आकर क्या किया ?' मैं चाहता था इन्ही मे पूछ लू—'आपने क्या किया ?' पर कबीर का एक पद्य स्मरण हो आया—

साधु देख दुनिया हसे, दुनिया देख हसे साध।
उलट पुलट की बात में, कोई परमारथ लाध॥

वैसे दोनो की ही विचार सारणिया भिन्न-भिन्न थी। फिर भी चिन्तन दोनो का एक ही धुरी पर था—'कितने दु खी हैं !' अब प्रश्न बस-यात्रा का या पद-यात्रा का न रहकर दु ख क्या है, यह रह गया। वैसे यह है भी एक अजीब पहेली ! मैं चाहूगा कि इसे सुलझाने के लिए तथागत बुद्ध के कुछ वाक्य यहा उद्धृत कर दू—

'देख यह आसक्ति है, इसमे सुख थोडा है, आस्वाद कम है और दु ख अधिक है, सावधान ! यह मछली फसाने का जाल है।'[1]

'परवशता दु ख है, सुख तो एक स्ववशता मे ही है।'[2]

'वह सुख, सुख नही जो दूसरो को दु ख देकर मिले।'[3]

अपेक्षा है मानव सुख-दु ख परखने मे अपनी कुशल मनीषा का परिचय दे।

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ६८/८५

२ वही, पृ० १०३/११६

३ अगुत्तर निकाय, १७

६ भगवान् किसे कहते हैं ?

आज के विद्यार्थी वर्ग की धर्म-कर्म-विमुखता और पश्चिम का अन्धानुकरण प्रत्येक विचारक के लिए चिन्ता का विषय है । अध्यात्म-शून्य साक्षरता से अह्नि की परिकल्पना सहज है । धर्म-प्रधान देश के नीव की ईंट, धर्म-कर्म मे इतनी कच्ची हो, यह भारतीय मानव कब सह सकता है ? उसे यह स्थिति सदा अखरती रहती है ।

मेरा चिन्तन इससे भिन्न है । पचासो उच्चस्तरीय शैक्षणिक सस्थाओ के निकट सम्पर्क मे आने के बाद निस्सकोच कहा जा सकता है कि 'विद्यार्थी वर्ग को आत्मा-परमात्मा की चर्चा मे रस न हो, ऐसी बात नही है । अपेक्षा है वे पचा सकें वैसी सुपाच्य और स्वादु खुराक की ।

एक बार मैं राजस्थान के एक महानगर मे गया, जो शिक्षा, सस्कृति व सभ्यता मे अपनी शान का एक ही है । वहा एक विद्यालय मे आने का मौका मिला । प्रवचन के बाद विद्यार्थियो की ओर से अनेक प्रश्न, प्रति-प्रश्न आए । उन वैज्ञानिक, दार्शनिक व सास्कृतिक प्रश्नो के साथ एक प्रश्न था—'भगवान किसे कहते है ?' उन शूट-बूट पहने बाबुओ के मुह से भगवान का नाम सुनकर सब विस्मित थे । प्रश्न की तरह उत्तर भी आकार मे छोटा और समाधानकारक हो, यह सोचकर मैंने कहा—

जिस इसान मे अभिमान न हो, वह भगवान है' अर्थात् इसान अभिमान से हैवान बनता है, उससे रहित भगवान् । इस छोटे से उत्तर से सुनने वाले पर्याप्त सतोष अनुभव कर रहे थे, ऐसा लगा । पर, मेरे इस उत्तर की आधारभूमि तथागत बुद्ध का वह वाक्य ही था—[1] 'जिसका अहकार नष्ट हो चुका है ? वही सम्यक् परिव्राजक (पहुचा हुआ व्यक्ति) है और भगवान की परिभाषा भी यही है कि—'जिसका राग, द्वेष और मोह नष्ट हो गया है, वह भगवान है ।'[2]

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ७२

२ विसुद्धिमग्गो, ७/५६

७ पहचान

कलह का श्री गणेश प्राय अनायोजित हुआ करता है। अन्तर इतना रहता है कि यदि पास मे कोई 'घासलेटी' व्यक्ति होता है तो वह भभक उठता है और 'फायर ब्रिगेडी' मिल जाए तो सहसा समाप्त हो जाता है।

एक बार न्याय मन्दिर मे एक मुकद्दमे की पैरवी करने दो विरोधी दलो के वकील आये और न्यायमूर्ति के सामने खडे हो गये। बात प्रारम्भ होने वाली थी कि उससे पूर्व दोनो वकीलो मे निर्मूल वाक्-युद्ध छिड गया। बात यहा तक बढ गई कि दोनो ने बोली का विवेक भी भुला दिया। एक-दूसरे पर अपशब्दो की बौछार करने लगे। एक ने दूसरे से कहा—'आप मूर्ख हैं', 'आप महामूर्ख है' उत्तर मे दूसरे ने कहा। तुरन्त ही न्यायाधीश महोदय ने स्थिति को सम्हालते हुए कहा—अब जबकि वकील साहबान ने एक-दूसरे को अच्छी तरह पहचान लिया है, मुकदमे की कार्यवाही आगे बढाई जाए।

दोनो ही अपने कटु भाषण पर लज्जित थे। उनकी झुकी हुई गर्दने और मुख की मायूसी मानो कह रही थी—'वही बात बोलनी चाहिए, जिससे अपने को सताप न हो और जिससे किसी को दु ख न पहुचे। वही सुभाषित वाक्य है।'[1]

जज साहब की वाणी और मुखमुद्रा से—'कटु वाक्य को उसे मन मे न लाना चाहिए।'[2] ध्वनि की प्रतीति हो रही है और अनुभव होता है कि 'विद्वान् वही है, जो निन्दा सुनकर भी वैसे ही अविचल रहता है, जैसे ठोस चट्टान वायु के झोको मे अप्रकम्पित रहता है।'[3]

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० १०६/१४१

२ बुद्ध वाणी, पृ० १०३/११७

३ विसुद्धिमग्गो, १/१०

८ औंधा घड़ा

आत्मद्रष्टाओ ने[1] और नीतिस्रष्टाओ ने[2] कहा—'मुमुक्षु-मानव अपनी बडाई की डीगे न हाके।'

बडप्पन की डीगें हाकने वाले के सामने सत्य और असत्य का विवेक नही रहता। जहा दूसरो को तुच्छ और अपने आपको बडा गिनने की वृत्ति रहती है, वहा सत्य के प्रति उपेक्षा और दूसरे को हीन दिखलाने की भावना क्यो न होगी!

'एक ईरानी और एक मिस्रवासी अपने-अपने देशो के बीते हुए दिनो के बारे में बात कर रहे थे। मिस्रवासी ने कहा—'मेरे देश की सभ्यता सबसे पुरानी है। अभी कुछ दिन पहले खोज करने वालो को मिस्र के प्राचीन नगरो मे आजकल की तरह तार लगे हुए मिले।'

यह सुनकर ईरानी स्तब्ध रह गया पर अधिक समय तक नही। बोला—'खोज मेरे देश मे भी हुई है, परन्तु काफी गहरी खुदाई करने वालो को तारो का पता नही लगा। इससे जाहिर है कि उस काल मे मेरे देशवासी बेतार के तार से बातचीत करते थे।'

यह है बडप्पन की भूख मे पलने वाला मिथ्याभिमान और मिथ्याभाषण! तभी तो तथागत बुद्ध ने साधक को सजग किया। 'जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने मे लज्जा नही, उसका साधुपना औंधे घडे के समान है। साधुता की एक बूद भी उसके हृदय घट के अन्दर नही बैठती।'[3] जो मूर्ख अपने मिथ्याभिमान मे बडबडाता है, वह छिछली नदियो की तरह शोर मचाने वाला है और खाली घडे की तरह आवाज करता है।[4]

---

१ अत्ताणं न समुक्कसे—दशवै० ८/३०
२ आत्मा न स्तोतव्य —चाणक्यसूत्र, ५०९
३ बुद्धवाणी, पृ० २३/३
४ सुत्तनिपात, ३/३७/४२-४३

९ फ्रण्टियर मेल

एक बार एक व्यक्ति हजामत बनवाने के लिए नाई की दुकान पर गया। नाई अपने उस्तरे की 'फ्रण्टियर मेल' कहकर प्रशसा कर रहा था। आगतुक की उत्सुकता बढी। दाढी बनवाकर जब दर्पण मे मुह देखा तो चेहरा केशो से भरा था।

'अरे ! यह क्या ? तुम तो अपने उस्तरे को फ्रण्टियर मेल कह रहे थे। फिर इतने केश कैसे रह गये ?' दाढी बनवाने वाले व्यक्ति ने रोष से पूछा।

नाई ने हसते हुए कहा, 'तभी तो छोटे-छोटे स्टेशनो की तरह केश बीच मे छूट गए है।'

दैनन्दिन व्यवहार मे घटने वाली ऐसी लघु घटनाओ से सहज ही आका जा सकता है कि मानव कितना असत्यभाषी बन गया है। वह हसी-मजाक मे भी प्राय असत्य ही बोलता है। वह भूल बैठा है आप्तपुरुषो के सकेतो को।

तथागत बुद्ध के इस वाक्य को स्मरण रखना चाहिए—

'जिसे जानबूझकर झूठ बोलने मे लज्जा नही, वह कोई भी पाप कर सकता है। इसलिए तू हृदय मे अकित कर ले कि मैं हसी-मजाक मे भी कभी असत्य नही बोलूगा[1]।' 'चूकि यह झूठी डीग (सम्फप्पलाप) सबसे बडा मिथ्या वचन है।'[2] साधक जीवन मे यह विवेक रखे कि वह कभी असत्य, अहकार व धोखे भरी बाते न कहे, जो भी सत्य है उसे स्पष्ट व सरल भाषा मे रखें।

१० प्रदर्शन के तीन चित्र

१

मैंने एक बार एक गाव मे विहार किया। अगले गाव तक पहुचाने के लिए

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० २४/४

२ मज्झिम निकाय, ३/२८/१

कई भाई साथ हो गए। हम लोग आगे-पीछे चल रहे थे। जो भाई मेरे साथ चल रहा था उसके कान मे एक रूई का फोया था। सहसा मैं पूछ बैठा—इत्र किस चीज का है ?' वह हसता-सा बोला—'इत्र नही, पानी से भिगोया हुआ फोया है।'

'क्या, कान मे दर्द ह ?'

'नही, दर्द तो नही है।'

'तो ?'

इसलिए कि अगले गाव मे कुछ सगे-सम्बन्धियो के घर हैं। मिलने वाले देखकर समझे कि कान मे इत्र का फोया है।'

२

'भेड को चराते बापू रेडियो बजाते बाबू' की कोटि का एक विद्यार्थी हाथ मे एक कपडे का छोटा-सा बण्डल लिये अपने दोस्त के साथ जा रहा था। बातो के प्रसग मे कहा, 'पिताजी ने तैंतीस रुपये भेजे हैं, उनसे टेरीलिन का कपडा लाया हू। बुशर्ट बनवा लूगा।'

'बुशर्ट तो दूसरे कपडे की भी हो सकती है। जब रुपये सारे ही खर्च कर दिये तो एक महीने तक खाओगे क्या ?' दूसरे ने कहा।

'खाना क्या है, एक महीने तक चनो से ही काम चला लूगा। बुशर्ट तो नयी डिजाइन की हो जायेगी। देखकर यार लोग मेरा लोहा मानेंगे।'

३

"क्या आजकल तुम्हारी पत्नी बहुत बीमार है ?' एक मित्र ने अपने मित्र से पूछा।

'नही तो ! तुम्हे यह भ्रम कैसे हुआ ?'

'वह कल पार्टी मे जोर-जोर से खास रही थी न ?'

'अरे वाह, तुमने भली चिन्ता की, वह तो इसलिए खास रही थी कि कल वह अपनी मनपसन्द नयी साडी पहनकर आई थी।'

पूछने वाला विस्मय से उसकी ओर झाकता ही रहा।

वह है दिखावे का नशा जो एक सक्रामक रोग की तरह हर वर्ग में स्पूतनिक गति से बढता जा रहा है। इसीलिए तथागत बुद्ध ने कहा—'भूख सबसे बडा रोग है"[1] किन्तु बडप्पन की भूख का भस्मक रोग तो इतना विषैला बन गया है कि उसका प्रतिकार ही नजर नही आता। वह असाध्यता की सीमा मे प्रवेश कर गया है।

इस सदर्भ मे तथागत का यह उपदेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि 'जो मूर्ख है, वही उपाधि और दिखावा करता है'।"[2]

११ जैसे को तैसा

भ० महावीर ने कहा—'साधक किसी को भी अमनोज्ञ, तुच्छ वाक्य न कहे'।[3] वस्तुत व्यवहार की भूमिका मे किसी को तुच्छ गिनकर चलना, अपने आपको तुच्छ प्रमाणित करना है। युग ने करवट ली है। आज का प्रत्येक मनुष्य प्रबुद्ध है। बडप्पन के नशे मे किया गया तिरस्कार आज कोई भी सह लेने को तैयार नही है। यदि सम्भलकर व्यवहार नही किया तो प्रतिध्वनि भी वैसी ही आयेगी।

दो अंग्रेज प्रथम श्रेणी के डिब्बे मे बैठे थे। रास्ते के एक स्टेशन पर जब गाडी रुकी तो एक किसान के वेश मे पढा-लिखा युवक फाटक खोलकर उसी डिब्बे मे चढा और उन दोनो के बीच मे बैठ गया। तब एक अंग्रेज ने दूसरे अंग्रेज से कहा—He is an idiot (यह मूर्ख है)।

दूसरे ने कहा—No, he is a donkey (नही, यह गधा है)।

वह देहाती भी अंग्रेजी जानता था, अत हसता हुआ बोला—'No Sir, I am between the two' (नही, जनाब मैं इन दोनो के बीच मे हू।) अर्थात् मेरे एक ओर मूर्ख है और दूसरी ओर गधा, मैं तो इन दोनो के मध्य मे हू।

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ६०/२२

२ चुल्लनिद्देस पालि, २/४/१६

३ सूत्र, ६/२७

अब वे दोनो महाशय कहे भी तो क्या ! कहना तो मुझे है तथागत बुद्ध का अमर वाक्य जो प्रत्येक क्षण याद रखने जैसा है—

'मूर्ख मनुष्य दुर्वचन बोलकर खुद ही अपना नाश करते हैं'[1] । 'मनुष्य की जीभ एक कुठारी है, जो जन्म के साथ ही उसके मुख मे पैदा होती है। यह दुर्वचन बोलकर उससे अपने को ही काट डालता है।'[2]

१२ 'क्यों' का समाधान

एक सज्जन रेलवे कर्मचारी पर बुरी तरह बिगड रहे थे। 'आपकी गाडिया इतनी देर से आती हैं, तब समयसारिणी का लाभ ?'

रेलवे कर्मचारी अपना पीछा छुडाने के लिए बोले—महाशय, अगर गाडिया समय पर आने लगे तो आप ही कल मुझसे आकर पूछेंगे—'यात्रियो के लिए विश्राम घर बनवाने से क्या लाभ ?'

श्रीमान जी यह सुनकर चुप हो गये, पर इस छोटे से सस्मरण से सभी दार्शनिको को यह मानना होगा कि तत्त्वदर्शन सदा 'क्यो' के समाधान से ही नही मिला करता। अत शुष्क तर्कजाल, जाल ही है। उन्हे तो बुद्ध की इस वाणी को याद रखना चाहिए—

'प्रज्ञा से जीवन निर्वाह करने वाला ही ससार मे श्रेष्ठ है।'[3] चार बलो (प्रज्ञाबल, शक्तिबल, सदाचारबल और सग्रहबल) मे प्रज्ञा का बल ही प्रमुख एव श्रेष्ठ है।[4]

१३ सत्पुरुषो की सुगन्ध

आचार्य भिक्षु के बारे मे कई बार सोचा करता हू कि वे एक निर्भीक वक्ता कुशल अनुशासक, सफल साधक, स्पष्टवादी तथा चिन्तन के क्षेत्र मे अनूठी

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ६६/६१
२ सुत्तनिपात, ३/३६/१
३ बुद्ध वाणी, पृ० ७७/१६
४ अगुत्तर निकाय, ४/१६।३

सूझ बूझ के धनी थे। यह सब तो ठीक, पर उनको अपने जीवन मे वातावरण की ऐसी अनुकूलता उपलब्ध न हो सकी जैसी कि अपेक्षित थी। विरोधी झझावातो का उतना ही नही ,अपितु उससे भी कुछ ज्यादा सामना करना पडा, जितना साधारणतया प्रत्येक महापुरुष को करना पडता है। फिर भी उनके गौरव की गन्ध विश्व के ओर-छोर तक कैसे फैली ? सुगन्ध फैलने के लिए तो अनुकूल पवन की अपेक्षा रहा करती है ? यह विचार रह-रह पचासो बार मेरे मन मे आये। पर मनस्तुष्टि हुई तब, जब तथागत बुद्ध की ये पक्तिया पढी—

'कोई भी सुगन्ध चाहे वह चन्दन की हो, चाहे तगर की हो या चमली की हो, वायु से उल्टी ओर नही जाती। किन्तु सत्पुरुषो की सुगन्ध वायु मे उल्टी ओर भी जाती है। सत्पुरुषो की सुगन्ध सभी दिशाओ को युग-युग तक सुवासित करती है।'[1]

१४ जय-पराजय

एक बार एक बूढी बहन कई बहनो के साथ फुटबाल का मैच देखने के लिए गई। देखा, दो गुट परस्पर एक-दूसरे से पेच लगा रहे थे। वह मौन साधे कुछ क्षण देखती रही। जब मन-ही-मन अमूझने लगी तब एक साथिन से पूछा— 'आखिर ये लोग गेद को कहा ले जाना चाहते है।'

साथिन ने कहा—'वहा गोल तक।'

बुढिया ने सिर हिलाते हुए कहा—'बडे नासमझ छोकरे है, यदि एक-दूसरे के कार्य मे रोडा न अटकाये तो गेद झट मे गोल तक खुद ही पहुच जायेगी। व्यर्थ ही समय बर्बाद कर रहे है।'

सुनने वाले बुढिया की बात सुनकर हसने लगे होगे, पर मनीषियो को इस निश्छलवाणी मे भी कुछ तथ्य दीखता है। क्रीडा क्षेत्र से परे जीवन-क्रीडाङ्गण मे जय-पराजय की भावना लेकर अखाडे मे उतरना नासमझ छोकरो का काम है। झगडा वही होता है, जहा एक-दूसरे के

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ८५/६०

काम मे रोडा अटकाया जाता है। उस अनधिकार हस्तक्षेप का उग्र रूप ही युद्ध है, जिसकी परिसमाप्ति जय-पराजय मे होती है। हार और जीत यद्यपि दो-दो अक्षर वाले दो लघु शब्द हैं, पर मेरे ख्याल से इन दोनो के कटु परिणामो को लक्षित करके कहा हुआ तथागत बुद्ध का यह वाक्य विजयी बनने की कामना करने वालो को सदा स्मृति मे रखना चाहिए—

'विजय मे वैर पैदा होता है, पराजित पुरुष दु खी होता है। जो जय और पराजय को छोड देता है, वही सुख की नीद सोता है[1]।' 'वह विजय अच्छी विजय नही जो बाद मे पराजय मे बदल जाए।'[2]

१५ विचारो का अतिवाद

आज की बदलती हुई दुनिया मे पुराने मानदण्ड तेजी से बदलते जा रहे है। एक समय था, जब मानव-धर्मशास्त्र के लेखक भी लिख बैठे '**न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति**' स्त्री का स्वतन्त्र होना उचित नही है। अर्थात् वह हमेशा पुरुष के ही अधीन रहे, इसी मे उसका गौरव है। पर आज ऐसे पदो को पुरुष की निरकुश वृत्ति का परिणाम माना गया और कहा गया है—

'नर-कृत शास्त्रो के सब बन्धन हैं नारी को ही लेकर
अपने लिए सभी सुविधाए पहले ही कर बैठे नर।'[4]

ये विचार कवि के ही शब्दो मे गूजे हो, ऐसी बात नही, व्यवहार पक्ष तो और भी आगे बढा।

एक भाई ने एक बार बताया, इगलैड मे एक समय एक व्यक्ति स्त्री-स्वातन्त्र्य के विरोध मे धुआधार भाषण दे रहा था। सभी श्रोतागण उसकी अकाट्य युक्तियो पर मुग्ध थे। इतने मे एक महिला प्रवाह को भग करती हुई बीच मे बोल उठी—'मिस्टर, यदि मै तुम्हारी पत्नी होती तो

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ६०/१८
२ जातक, १/७०/७०
३ मनुस्मृति
४ पचवटी

तुम्हे विष देकर खत्म कर देती ।'

वह व्यक्ति हसता हुआ बोला—'महाशया ! आपको श्रम नही करना पडता। यदि आप जैसी महिला मुझे मिल गई होती तो मैं स्वय ही जहर खाकर मर जाता।' यह है एक पक्ष।

दूसरे पक्ष को लीजिए—

एक महाविद्यालय के प्राध्यापक महोदय छात्राओ की सभा मे व्यावहारिक ज्ञान (General knowledge) की परीक्षा ले रहे थे। छात्राओ से पूछा—'बताओ, 'श्रीकृष्ण इतने बडे कुशल और सफल राजनीतिज्ञ कैसे हुए ?' एक छात्रा ने तपाक से कहा—'वे सोलह हजार रानियो की सलाह से प्रत्येक काम करते थे। इसी से वे सफल राजनीतिज्ञ हुए ।'

देखा सफल राजनीतिज्ञ होने का गुर ? श्रीकृष्ण रानियो से सलाह लेते थे या नही, पर उसने तो अपनी राय रख ही दी। यह दूसरी बात है कि इस आधार पर कोई सफल राजनीतिज्ञ बनना चाहे या नही ।

इस सारे सदर्भ से मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि व्यक्ति विचारो के अतिवाद मे चला गया। बस, यही विवाद की जड है। अपक्व विचारो वाले व्यक्ति के चित्त मे प्रत्येक बात सहसा घर कर लिया करती है। तभी तो तथागत बुद्ध ने कहा है—'जिस प्रकार उस मकान मे वर्षा का पानी सहज ही पैठ जाता है, जो ठीक तरह छाया हुआ नही होता, उसी प्रकार जो चित्त (मन) ठीक तरह से सधा नही है, उसमे बुरे विचार घुस जाते है[१]।'

प्रत्येक मेधावी मानव बुद्ध के इस वाक्य को स्मरण रखे—'बुरे विचार मक्खिया हैं।'[२] विचारो की अच्छाई और बुराई को परखने मे आग्रह-हीनता का परिचय दे। बुरे विचारो की मक्खिया अपरिपक्व मानस मे रोग के कीटाणु पैदा करती हैं। अत उनसे बचे।

---

१ बुद्ध वाणी, पृ० ३६/२३

२ वही, पृ० ७२

१६ विधाता की चूक

मानव-मानस की दुर्बलताओ को छुआ सबने, कइयो ने ईश्वर के मुह से उन दुर्बलताओ की कहानी सुना कर, तो कइयो ने आर्षवाणी का घोष सुना कर, प्रतिकार की भाषा मे मार्ग-दर्शन दिया। कहते हैं, ब्रह्माजी ने सृष्टि-सर्जन की समाप्ति पर प्रतिक्रिया सुनने की इच्छा से प्रत्येक सदस्य के आत्म-सन्तोष की कहानी सुनना चाहा।

सर्व प्रथम ऊट से उसके सुख-दु ख के लिए पूछा। ऊट ने कहा—'पिताजी! आपने मुझे तो बहुत ही सुन्दर बनाया, लेकिन, बेचारे इस गधे को जरा आवाज मीठी देते तो अच्छा रहता।'

जब गधे से पूछा गया तो उसने कहा—मुझमे तो आपने कोई कसर नही रखी, पर इस हाथी का पेट बहुत बडा बना दिया। चिपकी-सी आखें और शरीर भी बेडौल भारी-भरकम!

हाथी से पूछा गया—उसने अपने बारे मे तो कोई शिकायत नही रखी, लेकिन बन्दर की शक्ल बुरी बताई और बन्दर ने लोमडी की शक्ल की आलोचना की।

जब सब एक-दूसरे की ही कमिया बताने लगे, तब जगत्-पिता ने सिर पर हाथ धरकर नि श्वास छोडते हुए कहा—'मैंने सब कुछ बनाया, लेकिन किसी को खुद देखने की दृष्टि नही दी, बस यही मेरी भूल है।'

जब इस लोककथा को मैंने सुना, तब मुझे तथागत बुद्ध का एक वाक्य याद आ गया—'दूसरो की त्रुटियो या कृत्यो और अकृत्यो की खोज मे न रहो। तुम अपनी ही त्रुटियो, कृत्यो और अकृत्यो पर विचार करो।'[1] वास्तव मे—'दूसरे का दोष देखना आसान है, किन्तु अपना दोष देखना कठिन है। लोग दूसरे के दोषो को भूसे के समान फटकते फिरते है, किन्तु अपने दोषो को इस तरह छिपाते हैं, जैसे चतुर जुआरी हराने वाले पासे को छिपा लेता है।'[2] 'जो व्यक्ति निरन्तर दोष देखता है, उसे यदि सम्पूर्ण

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ८८/१

२ वही, पृ० ६२/३४

भूमण्डल का साम्राज्य भी दे दिया जाए तब भी वह प्रसन्न नही हो सकता।"[1] इन सबका निष्कर्ष यही है कि मनुष्य अपने मे अपने को देखे ! काश ! भौतिकता की चकाचौंध मे चुंधियाया हुआ यह पगला पछी आत्मनिरीक्षण का पाठ सीखे।

१७ दर्शन का प्रयोग

देखा जाता है, छोटी-छोटी घटनाए भी कभी-कभी अनूठा तथ्य सामने रख दिया करती है। एक बार एक गधा और घोडा अपनी पीठ पर रूई और चीनी लिये चल रहे थे। भार बहुत ज्यादा था, दोनो ही परेशान थे। पर इस लोभी मानव को दया कब आती है ? थके-मादे चलते-चलते बेचारे एक नदी पार करने लगे। घोडे को भार कम करने का रास्ता दीख पडा, सहसा पानी मे लोट-पोट हो गया। लोट लगाते ही चीनी गल गई और कुछ भार मे मुक्ति मिली।

पास मे चलता गधा यह सब देख रहा था। उसने सोचा—इसका भार हलका हुआ तो मेरा भी हो सकता है, बस आव देखा न ताव, सहसा किया अनुकरण और नदी मे लोट गया, फिर क्या था, पीठ पर रुई के रखे गट्ठर भीग गये। भार तो बढना ही था, भार मुक्ति की आशा मे भार मे दबकर जीवन-मुक्त हो गया बेचारा।

इसी हेतु से भगवान् महावीर ने कहा है कि—'तत्त्व तर्को से नही मिला करता।'[2] तत्त्व को तर्क मे छानकर और केवल लोक-अनुसरण को देखकर चलने वाला, केवल दर्शन का प्रयोग करने वाला गधे की भाति जीवन मे हाथ धो बैठता है।

आख अर्थात् दर्शन, तथा श्रवण अर्थात् श्रद्धा दोनो के बीच मे चिन्तनशील मस्तिष्क है। इसका अर्थ है—चिन्तन श्रद्धा के पीछे भी चाहिए और दर्शन के पीछे भी। केवल दर्शन का प्रयोग करने वाले खतरे

---

१ जातक, १/७२/७२

२ आचाराग, ५/६

मे पड़ते हैं। दौडने वाले के लिए विश्राम की अपेक्षा भी रहती है। विश्वास विश्रामभूमि है। बुद्ध वाणी का निष्कर्ष है—'अन्तर मे उठने वाले क्षुद्र तर्क मान को पीडित करते रहते हैं[1]।' तथा 'उनके लिए अमृत का द्वार बन्द है, जो कानो के होते हुए श्रद्धा को छोडते है।[2] अनुभव वाणी का निष्कर्ष है, नकल मे भी अक्ल चाहिए।

१८ बन्दूक से ईमानदारी

मैने देखा—एक गाव मे व्याख्यान मच पर आसीन एक भाषणरोगी नेता का भाषण पूरी स्पीड पर था। भाषण का विषय तो उम्मीदवारी मे की गई कुर्सी मैय्या की भावभीनी आरती ही थी, पर शेखिया ईमानदारी की बघारी जा रही थी।

उपसहार मे कहा—'जब स्वराज्य है तो कोई जुल्म नही चल सकता। सभी अपनी मर्जी के राजा है। हम चाहते है कि प्रजा का हर व्यक्ति नेक और ईमानदार हो।' गाव के मुखिया को लक्ष्य कर कहा—'क्यो मुखिया जी ?' मुखियाजी ने कहा—'हमारे यहा तो आपकी दया से सभी व्यक्ति नेक और ईमानदार है।'

नेताजी ने हसते हुए कहा—'तब फिर, आप यह बन्दूक हमेशा क्यो साथ रखते है ?'

'इसी के कारण सब ईमानदार है।' निर्भीकता से मुखिया ने कहा। नेताजी चुप थे।

सन्त विनोबा ने कहा है—'राज्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) ऋषियो का राज्य (२) राजाओ का राज्य, और (३) बहुमत का राज्य।

ऋषिमुनियों के सत्परामर्श से और राजाओ के अपने विचार से चलने वाले राज्य चले गये। अब रहा बहुमत का राज्य, बहुमत मूर्ख होता है,

---

१ उदान, ४/१

२ बुद्ध वाणी, पृ० १०४/१२६

इसलिए—प्रजातन्त्र का अर्थ हुआ मूर्खों का राज्य।"[1]

जहा मूर्ख का प्रश्न है, वहा **'सर्वोदण्डजितो लोक'**[2] मूर्ख को ठीक रखने के लिए दण्ड का भय ही उपयोगी है। आज के स्वराज्य मे रहता है, बमो व बन्दूको का भय और सुराज्य मे रहता है अपने आपका भय। भ० महावीर ने कहा है,— 'वह क्या साधु, जो दूसरो के भय से निन्द्य कर्म से बचे।'[3] इसी की प्रतिध्वनि बुद्ध के शब्दो मे भी है—'अपना कर्तव्य समझकर सहज भाव से जो भिक्षु किसी भी प्राणी की हिंसा नही करता है, वही इस जगत् मे सम्यक् परिव्राजक है।'[4]

१६ तृष्णा की विडम्बना

'असन्तोषवत सौख्य न शक्रस्य न चक्रिण' और **'अशान्तस्य कुत: सुखम्'**?[5] अशान्त को सुख कहा? अशान्ति और शान्ति वस्तु-सापेक्ष न होकर विवेक सापेक्ष हुआ करती है। कोई व्यक्ति कोट्यधीश हो या लक्षाधीश, मरते दम तक भी धन बटोरने की धुन मे कैसे रहता है, इसका एक हृदय-वेधी चित्र देखिये—

अपने श्रम से धन अर्जित करने वाला एक कोट्याधीश मृत्यु के मुह मे पहुचने वाला था। आसपास के वातावरण मे शोक छा गया। चिकित्सको ने स्पष्ट कह दिया—'चन्द क्षणो के मेहमान है।' अन्त्येष्टि की तैयारी प्रतिष्ठानुकूल होने लगी। इतने मे उन्हे जरा होश आया। सबको आशा बधी। चन्द क्षणो के बाद धीरे से उन्होने पूछा—'मेरी बीवी कहा है?' बीवी ने आशा का धागा पकडे नम्रता से कहा—'मैं आपके पास ही बैठी हू।'

---

१ लोकनीति

२ मनुस्मृति, ७/२२

३ आचाराग, ३/३/११६

४ बुद्धवाणी, पृ० ७२/७

५ गीता

'मेरा बडा लडका ?'

'वह भी आपके पास सामने खडा है।'

'मझला ?'

'वह भी आपके पीछे खडा है।'

'सबसे छोटा ?'

'आपका हाथ पकडे हुए है।'

'सब यही हैं ?'

'हां।'

'तब दुकान पर कौन गया है ? नालायको ! कोई ग्राहक लौट जाएगा तो' कहते-कहते सदा के लिए आंख मूद ली।

यह है तृष्णा की विडम्बना ! प्राण छूटने की स्थिति मे भी जो नही छूट रही थी। तभी तो तथागत बुद्ध ने कहा 'यह जहरीली तृष्णा, जिसे जकड लेती है, उसके शोक वीरान घास की तरह बढते ही जाते हैं।'[1]

२० अपने से तोलो

विचारको ने कहा—मानव समाजवादी के स्थान पर व्यक्तिवादी बन गया है और व्यक्तिवादी के स्थान मे समाजवादी मनोवृत्ति वाला बन गया है। अर्थात् व्यक्ति यह नही मानता कि जो व्यवहार मुझे अच्छा नही लगता, वह व्यवहार मैं दूसरो के साथ क्यो करू ? यही मानव की मूढता है। वह इस शाश्वत सत्य को पचाते हिचकिचाता है।

एक ग्रामीण एक दुकानदार के यहा घी लेकर आया और बेचकर चला गया। कुछ दिनो बाद वह पुन लौटकर आया, तब दुकानदार ने शिकायत की कि वह घी पूरा पाच सेर नही था।

ग्रामीण ने सहज भाव से कहा—'उस दिन पचसेरी मेरे लडके ने कही रख दी थी वह मिली नही, अत आपके यहा से उसी दिन सुबह जो शक्कर ले गया था, उससे ही तोलकर घी ले आया था।'

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ३१/२

तब कही दुकानदार की समझ मे आया —यह तो 'शठे शाठ्यम्' है, और लगे अपनी शठता पर मुह बिलखाने। तब मुझे तथागत बुद्ध का यह वाक्य याद आया —'न हम एक दूसरे को धोखा दे, न किसी जगह एक-दूसरे का अपमान करे और न खीझ या द्वेष बुद्धि से एक-दूसरे को दु ख देने की मन मे इच्छा रखे।'[1]

मूढ मानव यही मान बैठा है— सभी प्राणी सुखी सानन्द रहे यह सिद्धान्त गलत हे। सही सिद्धान्त है, मै ही सुखी, सानन्द और सक्षेम रहू और न कोई मेरे साथ धोखा—असद् व्यवहार करे। पर मुझे तो परमात्मा के घर मे छूट है। वास्तविकता यह है कि जो व्यक्ति 'दूसरे को दु ख देकर अपना सुख चाहता है, वह वैर के जाल मे फसकर उससे छूट नही सकता।'[2]

'ऐसे ही उन्मत्त और प्रमत्त लोगो के आश्रव (चित्त के मल) बढते है, जो कर्तव्य को छोड देते हैं और अकर्त्तव्य को करते है।'[3]

२१ जनक का धनुष किसने तोड़ा ?

आज शिक्षा का विकास पर्याप्त प्रगति पर है। सरकार चाहती है कि कोई भी भारतीय निरक्षर न रहे। वह यह मानती है कि नागरिक का निरक्षर रहना देश की शान के अनुकूल नही है। पर प्रश्न है निरक्षर से साक्षर बना देना ही पर्याप्त है, अथवा भारतीय सस्कृति के आदर्शो से शिक्षित-दीक्षित करना ? भारतीय सस्कृति 'सादा जीवन उच्च विचार' की पोषक है। भारतीय महापुरुषो की जीवन-गाथाए इसे समझने के लिए श्रेष्ठ मार्गदर्शक हो सकती है। इनमे भी रामायण और महाभारत के कतिपय पात्रो का चरित्र तो इतना दिव्य और महान् है कि प्रत्येक मानव के लिए अनुकरणीय है। पर कभी-कभी कुछ विस्मयजनक घटनाए सुनने

---

१ बुद्धवाणी, २७/४

२ वही, ६४/४६

३ वही, ६४/५०

मे आ जाया करती हैं। पता नही वे सत्य हैं या असत्य, पर उनमे विद्यार्थियो को ही नही, अपितु तत्सम्बन्धी जिम्मेदार व्यक्तियो को भी महापुरुषो की कितनी जानकारी है, इसका अच्छा परिचय मिलता है।

एक एम० पी० महोदय किसी विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह पर भाषण देने गये। कार्यक्रम मे कुछ विलम्ब था, अत उन्होने समागत विद्यार्थियो और स्नातको का अनुभव परखना चाहा। इतिहास का विषय चला तो एक स्नातक से पूछ लिया, 'जनक का धनुष किसने तोडा ?'

छात्र स कपका गया। गिडगिडा कर बोला— "मुझे नही मालूम,मैने तो नही तोडा।"

छात्र के अज्ञान पर एम० पी० महोदय ने इतिहास के प्राध्यापक को उलाहना दिया।

उत्तर मिला—'यह विद्यार्थी तो सच ही बोला करता है। सच, उसने नही तोड़ा होगा। तोडा होता तो कह देता मैंने तोडा।'

एम० पी० महोदय हैरान थे। एम० पी० महोदय ने प्राचार्य से कहा। प्राचार्य झल्लाकर बोले—'ये सब झूठ है, उन्हे तो लाठी से समझाना था, सब स्वीकार कर लेते कि जनक का धनुष किस छोकरे ने तोडा, तत्क्षण पता लग जाता।'

एम० पी० महोदय किससे क्या कहे ! मन-ही-मन सब की अनभिज्ञता पर तरस खा रहे थे। एक दिन किसी प्रसग पर सारी बात शिक्षामत्री से कही और बोले इतना अन्धेर है कि किसी को पता नही, जनक का धनुष किसने तोडा। शिक्षामन्त्री भी शाही मिजाज के थे। उन्होने कहा— 'आप इतना विचार क्यो करते है। अगले बजट मे दुबारा बनवा देगे।'

अब तो एम० पी० महोदय की हैरानी का कोई पार नही रहा। जब भारतीय गणतन्त्र के शिक्षामन्त्री को ही पता नही कि जनक का धनुष किसने तोडा ? जनक का धनुष राम ने तोडा या किसी छोकरे ने, तो हद हो गई ! पुस्तको का गट्ठर रट लेने पर भी आदर्श पुरुषों की जीवनियो के सम्बन्ध मे, जो सस्कृति की नीव है, उसमे इतनी अनभिज्ञता ! तब सुख-शान्ति की क्या आशा की जा सकती है। तभी तो तथागत बुद्ध ने कहा है—'सहस्रो

अनर्थक गाथाओ से वह एक सार्थक गाथा श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है।"[1]

२२ अनूठी शोध

यह शोध का युग है। चारो ओर शोध की धूम मची हुई है। अच्छा होगा यदि मैं भी पाठक के सम्मुख शोधकर्ताओ का एक सस्मरण रख दू।

एक बार किसी जगह बहुत से पडितमानी व्यक्ति इकट्ठे हो रहे थे। विचार-विमर्श के लिए विषय था "**पडिते च गुणा सर्वे, मूर्खे दोषा हि केवलम्**" अर्थात् "पडित मे सारे गुण ही गुण है और मूर्ख मे दोष ही दोष।" पर्याप्त वाद-विवाद व तर्क-वितर्क के पश्चात सर्वसम्मति से यह अर्थ स्वीकृत हुआ कि—"पडित मे और तो सारे गुण ही गुण हैं, दोष केवल मूर्खता ही का है।' इस अनूठे अर्थ की खोज कर सब फूले नही समा रहे थे। मानो बडी विजय प्राप्त कर ली हो। मैंने जब यह पढा तो आश्चर्य हुआ, यदि मूर्खता का गुण भी पडित मे विद्यमान होता तो वह पडित हुआ ही कैसे ? उसी समय मुझे तथागत बुद्ध का एक वाक्य याद आ गया। अगुत्तरनिकाय मे एक प्रश्न है,—'यह जगत् किससे ढका हुआ है?' उसका उत्तर है—'यह जगत अविद्या से ढका हुआ है।'[2]

'अविद्या से जिसका हृदय ढका है वह अज्ञानी पडित के साथ रहकर भी धर्म के तत्त्व को नही जान पाता, जैसे कि कलछी (दर्वी) सूप के रस को।'[3]

बलिहारी है ऐसे अनूठे अर्थ के शोधकर्ताओ की। जिन्हे विद्या-अविद्या का भेद भी ज्ञात नही।

---

१ बुद्ध वाणी पृ० ८८/७

२ वही, सुत्त निपात (पारायण वग्ग)

३ धम्मपद, ५/५

२३ काले क्यो ?

सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है—'बुद्ध भगवान् की शिक्षा आज के युग के लिए विशेष रीति से अनुकूल है।' मेरे मन मे विचार आया, बुद्ध ने कहा—"जो पैसे के लिए झूठ बोलता है। उसे चाण्डाल समझना चाहिए।"[1] ऐसे सूक्तो का आज के युग मे क्या उपयोग हो सकता है ! आज का मानव 'भज गोविन्दम् भज गोविन्दम्' के स्थान पर 'भज कलदारम् भज कलदारम्' का जाप जप रहा है। 'सोऽहं' रटने वाला 'अर्थस्य दासोऽहं' कहने मे गौरव समझता है। 'धम्म सरण गच्छामि' कहने वाले 'धन शरण गच्छामि' होते जा रहे है। 'सत्यानृत तु वाणिज्यम्'[2] का क्रीतदास बनकर मानव मान बैठा है—व्यापार मे सचाई से काम नही चल सकता। उसका विचार है, स्वच्छ जल से कभी समुद्र नही भर सकता है। और तो क्या व्यापार को भी धोले और काले दो भागो मे बाट दिया है। अब कोई उसे समझाये भी तो कैसे ! इस विचार मे मैं सराबोर हो रहा था, इतने मे तथागत बुद्ध का एक वाक्य ध्यान मे आया—पाप कर्म दूध की तरह तुरन्त नही जमता, वह तो भस्म से ढकी हुई आग की तरह थोडा-थोडा जलकर मूढ मनुष्य का पीछा करता है।"[3]

यह वाक्य पूरा तब समझ मे आया, जब एक व्यक्ति ने एक सेठ से पूछा—'आजकल आप कुछ काले-काले से नजर आ रहे है ?'

सेठ साहब, जो काले बाजार के कटु पापो से दग्ध थे, नि श्वास छोडते से बोले—'हा भाई ! आज-कल मैं काले बाजार मे ज्यादा रहता हू। अत कुछ काला हो गया हू।'

पाठक सेठ के रग-रूप को न झाककर अन्तर् आत्मा के रूप को परखें।

---

१ बुद्धवाणी पृ० ६८/५

२ मनुस्मृति, ४/६

३ बुद्धवाणी, पृ० ८८/४

२४ कब तक जोड़ें ?

मैं एक बार मुनिश्री नथमलजी (युवाचार्य महाप्रज्ञ) का 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' देख रहा था। भरत और बाहुबली के प्रसग मे बाहुबली के विचार पढे—"तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र की विशेषता है। किन्तु उसकी सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोडने वाला समझता ही नही, तो जोडने वाला कब तक जोडे।' पढते ही कई वाच्य-आवच्य घटनाये मानस-पटल पर उभर आयी। लगा—ऐसा कौन-सा सचेतन प्राणी है, जो इस कटु अनुभूति मे न उलझा हो—'तोडने वाला समझता ही नही, तो आखिर जोडने वाला कब तक जोडे ?' 'मनुष्य समझदार प्राणी है, उससे अपेक्षा की जाती है कि वह तोडने वाले अर्थात् अपना अहित करने वाले की पशुता को न देखकर अपने कर्तव्य-पथ पर आरूढ रहे व उसके प्रति भी हितकर भाव रखे। किंतु कब तक ?

जैन रामायणकार ने इस विषय मे मार्गदर्शन दिया। उसने सीता के मुह से कहलाया—'सूत कातने वाली बुढिया सूत के टूट जाने पर भी वापस जोडती हुई आगे बढती है। धागे के टूटते ही तकली को तुरन्त फेंक नही देती है।' सीता की यह वाणी लवकुश के गले नही उतरी। उन्होंने उससे यह कह कर ठुकरा दिया कि "जिनके साथ मे मन मोती नही मिलता ऐसो से अर्थात् पिता राम से मिलने की हमे क्या जरूरत है।' 'जोडने वाला कब तक जोडे' कहकर उनके विरुद्ध समर-सज्जा कर ली। पर साधक के लिए यहा सतर्कता आवश्यक है।

शमोहि भूषण यतीना[1] अर्थात् 'यति हो, चाहे भूपति, मानसिक सन्तुलन प्रत्येक के लिए आवश्यक है।' साधक तो साधनाशील है ही पर शासक भी सदा के लिए ज्वालामुखी बनकर जी सके, यह सम्भव नही। शासक अपने प्रत्येक आवेग को सफल बनाकर चले तो उसे शान्ति नहीं मिलेगी। हमने देखा कि बाहुबली जैसे शास्ता को भी अपने शौर्य को मार्गान्तरित कर, अग्रज के विरुद्ध युद्ध का विचार त्यागना पडा। अर्थात्

१ नीतिवाक्यामृत

यह साधु बन गये।

अत निष्कर्ष यही निकला कि अपने गौरव को सुरक्षित रखने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह हर विषम परिस्थिति मे तथागत बुद्ध की इस सद्शिक्षा को सामने रखकर चले—

'यदि कोई टोकरी और कुदाली लेकर यह कहे कि इस तमाम पृथ्वी को खोदकर फेक दूगा। दूसरा मनुष्य लाख का रग, हल्दी का रग और मजीठ का रग लेकर कहे कि इस समस्त आकाश को रग डालूगा। और तीसरा मनुष्य घास की पुली सुलगाकर कहे कि इस गंगा नदी को मैं भस्म कर डालूगा तो उन मनुष्यो के प्रयत्नो का पृथ्वी, आकाश या गगा नदी पर कोई असर पडने का नही।'[1] इसी प्रकार दूसरे लोगो के बोलने का तुम्हारे हृदय पर तनिक भी बुरा असर नही पडना चाहिए। 'दूसरो के आक्रोश वचन सुनकर जो स्वय चिढता नही और दूसरो को चिढाता नही, वही सच्चा मुनि है।'[2]

२५ नरक की बस

विवेकी मानव भी कभी-कभी कलह पर उतारू हो जाया करता है। कलह के अन्यान्य कारणो मे विचारो और मान्यताओ का प्रतिपादन भी एक कारण होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारो व मान्यताओ के प्रचार मे स्वतन्त्र है, पर जब वह मिथ्या आग्रह मे पडकर उन्हे दूसरो पर लादना चाहता है, तो यह प्रवृत्ति उसके अपमान का कारण बन जाती है।

एक बस मे एक साधु महात्मा सफर कर रहे थे। उनकी बगल वाली सीट पर एक बातूनी सज्जन आ विराजे। साधु को छेडने की नीयत से बात शुरू की—'स्वर्ग क्या है? 'मैं तो मानता नही कि स्वर्ग जैसी कोई चीज है।' साधु चुप रहा। इन्होने फिर छेडा—'मुझे तो स्वर्ग जाने की जरा भी इच्छा नही।' साधु फिर भी चुप रहा। परन्तु वे सज्जन यो ही

१ बुद्धवाणी, पृ० ३०/१५

२ सुत्तनिपात, १/१२/१०

हार नही मानने वाले थे। फिर बोले—'मर कर तो क्या, अगर अभी मुझे कोई स्वर्ग जाने को कहे तो भी मना कर दू।'

साधुजी से अब नही रहा गया। उन्होने कहा—'तो आप नरक मे जा सकते हैं ? यह बस न तो स्वर्ग की ओर जा रही है न नरक की ओर। आप अपनी बस मे जाकर बैठिए।'

साधुजी की इस मीठी चुटकी से सारे यात्री खिलखिला उठे, और उस सज्जन ने कुछ झेप से कुछ अपमानजनित क्रोध से अपनी गर्दन नीची कर ली। मुझे ऐसा लगा—उनका सारा प्रयत्न तथागत बुद्ध के द्वारा कथित उस मूर्ख की दशा के अनुरूप था 'सभा मे जब वे शास्त्रार्थ करते हैं, तब प्रशसा लूटने की इच्छा से दूसरो पर वाग्बाणो का प्रहार करने लगते हैं। यदि बाद मे वे हार जाते है तो मारे शर्म के मुह छिपा लेते है। ओर जब उनकी निंदा होती है, तो क्रोध मे आकर दूसरो के दोष ढूढने लगते है।'[1]

उधर उन साधु जी का अलमस्ती मे कहना भी इस बात का परिचायक है कि अस्थिर मनुष्य ही वाद-विवाद मे पडता है। निश्चल मनुष्य को क्या पड़ा है कि वह किसी के साथ वाद-विवाद करे ? 'जो न आत्मवाद मे फसा है, न उच्छेदवाद मे, उसके पास साम्प्रदायिकता का काम ही क्या ? उसने तो सारी साम्प्रदायिकता धो डाली है। फिर क्यो और किसके साथ वाद-विवाद करे।'[2]

२६ पत्थर ने फूल से कहा

दिसम्बर १९६२ के नवनीत मे एक जगह पढा—'पत्थर ने फूल से कहा—मैं तुझे कुचल डालूगा।' फूल ने जवाब दिया—'तो मेरी सुगन्ध को दुनिया मे फैलाने का मौका देकर तुम मुझ पर अनत उपकार करोगे।' पत्थर का घमण्ड चूर-चूर हो गया। नम्रता और दृढता के साथ फूल ने दोनो

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ५१/१६

२ वही, पृ० ५२/३२०

तरह से जीत प्राप्त कर ली। कुचला जाता तो उसकी जीत थी ही। बच गया तो उसने किसी को दुखाये बिना अपने शील की रक्षा कर ली।

अहिंसा का यह कितना सरल, सुन्दर तथा गहरा विश्लेषण है। भारतीय संस्कृति ही नही, मानव संस्कृति की प्रतिष्ठा भी अहिंसा पर ही अवलम्बित है। इस विषय मे तथागत बुद्ध का यह वाक्य सदा स्मृति-पटल पर रहना चाहिए 'क्रोध को अक्रोध से जीते। भलाई से बुराई को जीते।'[1] और साथ ही यह भी ध्यान मे रहे कि—'जो उत्पन्न क्रोध को चलते रथ की तरह रोक लेता है, उसी को मैं सारथी कहता हू।'[2]

२७ नये खून से

आज का ससार प्राचीन और अर्वाचीन की सन्धि-वेला से गुजर रहा है। पुराने मूल्य ढहते जा रहे हैं, नये मूल्यो की प्रतिष्ठा हो रही है। सघर्ष सर्जन या विसर्जन का नही, प्राचीनता-पोषको व अर्वाचीनता के समर्थको के विचारो मे सामजस्य न बैठने का है। स्थितिपालक नये खून मे अनिष्ट की परिकल्पना करते हैं, वहा नयी पीढी स्थितिपालको को पोगापथी करार देने मे ही अपनी सभ्यता समझती है। मननशील व्यक्ति को दोनो मे ही अतिवाद व एक पक्षीय आग्रह की बू आती है। मेरा निजी अभिमत है 'निष्पक्षता से वस्तु की सचाई को परखे। नये खून मे कुछ कर गुजरने की लगन है, निष्ठा है, शक्ति है, जोश है। पर बूढो के पास कुछ भी नही हो, ऐसी बात नही, उनके पास भी पर्याप्त मात्रा मे होश है। हर नवयुवक चाहे तो उसे अपनाकर स्वर्ण-सुरभि की सूक्ति सिद्ध कर सकता है।

'एक बार मैं एक ग्राम के बाजार से गुजर रहा था। कुछ भाई भी साथ थे। एक भाई दुकान पर बैठा था। मुझे देखकर वह नीचे उतर गया और मेरे साथ चलने लगा। वापस लौटते समय देखा, एक वृद्ध व्यक्ति दुकान पर बैठा था। पूछने पर पता लगा, वे उस भाई के पिता है। वे

१ बुद्धवाणी, पृ० २१/१
२ धम्मपद, २ (क्रोध वग्गो)

दुकान पर बैठे अपने ध्यान मे थे। मैं अपनी धुन मे पास मे होकर स्थान पर आ गया। दूसरे दिन सुबह वे वृद्ध व्यक्ति अनुताप करते से आये और नम्रता भरे शब्दो मे कहने लगे—'आप कल मेरी दुकान के पास से गुजरे, आपने मेरे लिए पूछा भी। फिर भी मेरी आखो की ज्योति कम होने से पता नही लगा। वन्दना करना तो दूर रहा दुकान पर खडा भी नही हो सका। आप बडे है, मेरी गलती माफ करे। यो वे न जाने कितने ही श्रद्धा भरे शब्दो मे क्या-क्या कह गये। मैंने उन्हे सात्वना देते हुए कहा—ऐसी कोई बात नही, वृद्ध हैं ध्यान नही आया, क्या बात है। फिर भी मै उनकी मुख-मुद्रा की ओर देख रहा था। स्पष्ट जान पड रहा था, पर्याप्त पश्चात्ताप कर रहे है। मेरे मन मे आया—कितनी नम्रता एव श्रद्धा भरे उद्गार निकल रहे है। वह भी ऐसे समय मे, जब बहुत से व्यक्ति गुरुजनो को श्रद्धा की उपेक्षा की दृष्टि से देखते है। ऐसा लग रहा था कि उनके उद्गार प्रत्येक मानव के लिए बोध-पाठ का काम कर सकते हैं। बूढो के पास बहुत कुछ है, जो सीखने योग्य है। यो सोच ही रहा था कि तथागत बुद्ध के ये वाक्य याद आ गये।

'जो अभिवादनशील और सदा वृद्धो की सेवा करने वाले है, उनके ये चारो धर्म बढते है—आयु, वर्ण, सुख और बल'।'[1]

'धर्म को जानकर जो मनुष्य वृद्ध-जनो का आदर करते है, उनके लिए इस लोक मे प्रशसा है और परलोक मे सुगति।'[2]

२८ हिंदी साहित्य मे पी एच-डी

१६ जून १९६३ का धर्मयुग देख रहा था, एक जगह एक व्यक्ति का प्रश्न था—हिन्दी साहित्य मे पी०एच-डी० करना चाहता हू। कोई विषय सुझाइये—उत्तर इस प्रकार छपा था।

ये कुछ विषय है, विचार कर लीजिये—

---

१ बुद्धवाणी, ६/८

२. वही, १०२/११२

१—साहित्य मे पी०एच-डी० करने के असाहित्यिक हथकण्डे ।

२—पुरानी थीसिसो का क्या हुआ ? छपी या सडती रही, कितनो ने पढी ?

३—पी०एच-डी० करने से शोधकर्त्ता को क्या लाभ हुए ? नही करता तो देश और साहित्य को क्या लाभ होता ?

ये पक्तिया पढते-पढते मुझे साहित्य के उपयोग की एक आपबीती याद आ गई।

मै एक गाव मे एक पुस्तकालय मे गया। वहा सद्य प्रकाशित नयी-नयी पुस्तके प्राय सगृहीत थी। पर उनके ऊपर रेत के पलस्तर देखकर और उन्हे अव्यवस्थित पडी देख मन मे आया कि यदि लेखक स्वय आकर यह देखे तो मन मे आये बिना नही रहेगा कि मेरे श्रम का यह मूल्याकन है ? वस्तुत साहित्य की आजकल बाढ-सी आ रही है। ऐसे लेखको की कमी नही जो 'दो-चार पुस्तके छपी कि गुब्बारे जैसे फूल गये' और आ बैठे साहित्यिको की कोटि मे।

दोनो अनुभूतियो के समन्वय से यह निष्कर्ष तैयार है।

मुर्दा है वह देश, जहा साहित्य नही है।
अन्धकार है वहा, जहा आदित्य नही है।

साहित्यिक अपनी क्षमता, कृति की उपयोगिया, सार्वजनीनता, देखकर ही अपने मसूबे साकार करने को समुद्यत हो, यह उचित रहेगा, या पानी का अर्थ सवर बताने जैसे नीरस तथा घासलेटी साहित्य के पुलिन्दो का ढेर लगावे ? साहित्यकार महावीर और बुद्ध के देश मे रह रहे है, वे हर समय ध्यान रखे। जिनकी अमरवाणी आज भी गूज रही है 'सहस्रो अनर्थक वाक्यो से वह एक सार्थक वाक्य श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर शान्ति प्राप्त होती है।'[1] जिसे सुनकर आत्मा अन्तर्मुखी हो, वही कहना उचित है।

१ बुद्धवाणी, पृ० ८८/७

२९ भरत-मिलाप

एक दिन मैं शौचार्थ गाव से बाहर गया। वहा देखा हजारो नर-नारियो की भीड इकट्ठी हो रही है। पुरुषो के झुड अपने नौनिहालो को लिये उसी ओर आ रहे हैं। वेश-भूषा से, चेहरे के रग-ढग से एक कौतूहल-सा नजर आ रहा था। पूछने पर पता लगा, आज दशहरा है। रावण को मारने के लिए राम की सवारी आने वाली है। लोग वह दृश्य देखने को समुत्सुक हैं।

मेरे मन मे आया, अहिंसा-प्रधान भारतीय मानस मे भी युद्ध देखने की कितनी लालसा है! यो कई तरह के सकल्प-विकल्प मन मे आये, भारतीय नीति के भाई-चारे और मैत्रीभाव पर तरस भी आया। पर समाधान तब मिला, जब दूसरे ही दिन देखा भरत-मिलाप देखने के लिए उससे भी दुगुनी भीड जमा हो रही थी। वह भी अद्भुत वात्सल्य और कौतूहल लिये हुए। तब निष्कर्ष सामने आया, यह है भारतीयो के मेल-जोल की भावना का स्फुट चित्र। युद्ध की बात मे हर एक को रस होता है, यह माना जाता है। पर मिलाप मे ज्यादा रस आता है, न कि युद्ध मे। क्योकि यहा के निवासियो को जन्मघुटी मिली है 'वैर से वैर कभी शान्त नही होता। वैर प्रेम से ही शान्त होता है, यही सनातन नियम है।'[1] और 'जहा पर प्रीति है, वही सुख है—**यत्थ पीति तत्थ सुख।**'[2]

३०. कच्चा फल

एक बार उदयपुर जिले के एक गाव (गोगुन्दा) से आये हुए भाई से बातचीत हो रही थी। हम जब आषाढ महीने मे वहा थे तब आमो के पकने का समय था। वहा आम अधिक होते हैं, मुह-मुह पर आमो की चर्चा थी। प्रत्येक गली मे कदम-कदम पर आमो की गुठलिया दीख रही थी। मकानो

---

१ बुद्धवाणी, पृ० २८/३

२ विसुद्धिमग्गो, ४/१००

मे भी कमरे आमो से भरे हुए थे। मैंने उस भाई से सहसा पूछ लिया—'आजकल आमो का क्या हाल ?' उस भाई ने जवाब दिया—'मुनिश्री, अब कहा आम ? उनका मौसम तो सपाटे से निकल गया। लोग आजकल केरिया (कच्ची) ही तोड-तोडकर फेकने लग गये। तभी मेरे मन मे तथागत की वह सूक्ति स्फुरित हो उठी—'फल वाले महान् वृक्ष के कच्चे फल को जो तोडता है, उसको वह फल भी नही मिल पाता और भविष्य मे फलने वाला बीज भी नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार महान् वृक्ष के समान राष्ट्र का जो राजा अधर्म से शासन करता है, उसे राज्य का आनन्द भी नही मिलता और राज्य भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।'[1]

३१ श्रीमान् और श्रीमती

आत्म-द्रष्टाओ ने जहा भगवान् (सत्य) और भगवती (अहिंसा) की सम्यक् अवस्थिति मे सुख और शान्ति की स्थिति बतलाई, वहा समाज-शास्त्रियो ने श्रीमान् और श्रीमतीजी की सम्यक् अवस्थिति मे सुख और शान्ति की विश्रान्ति बतलाई, गृहस्थाश्रम को धन्य कहा। श्रीमान् और श्रीमतीजी की सह-अवस्थिति सम लय पर रहे। इसलिए समय-समय पर तत्त्वविदो ने सीमा-रेखाओ का निर्धारण भी किया। जैसे तथागत बुद्ध ने कहा—

'पत्नी रूपी पश्चिम दिशा की पूजा के ये पाच अग हैं'[2]—

१ उसे मान देना।

२ उसका अपमान नही होने देना।

३ एक पत्नीव्रत का आचरण करना।

४ घर का कारबार उसे सौपना।

५ उसे वस्त्र और आभूषणो की कमी नही पडने देना।

पति यदि इन पाच अगो से पत्नी की पूजा करता है, तो वह अपने पति पर पाच प्रकार का अनुग्रह करती है—

---

१ जातक, १८/५२८/१७२-७३

२. बुद्धवाणी, पृ० ५६/१५

१ घर मे सुन्दर व्यवस्था रखती है।

२ नौकर-चाकरो को प्रेम के साथ रखती है।

३ पतिव्रता रहती है।

४ पति उसे जो सम्पत्ति देता है, उसकी रक्षा करती है, उसे उडाती नही।

५ घर के काम-काज मे तत्पर रहती है।

जब समय-असमय इन सीमा-रेखाओ का अतिक्रमण होता है, तब जीवन मे कटुता बढती है। नमूने के तौर पर ये तीन चित्र हैं, जो इसका कुछ आभास कराते है—

१

'चौकीदार की जगह के लिए एक दरख्वास्त पर सिफारिश थी—'यह व्यक्ति बडा सीधा, विनम्र, सन्तोषी और सबमे निभने वाला है।' मैनेजर ने उस छोटे कद के उम्मीदवार को सिर से पाव तक घूरते हुए देखा, कहा—'लेकिन हमे तो ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो लम्बा-तगडा हो, कभी चैन से न बैठता हो, खासतौर से रात मे, हर एक पर शका करता हो, एक आख से हमेशा जागने वाला हो, जिसके कान हमेशा खडे रहते हो और जो छिपकर बाते सुनता हो। जो झगडालू और ऐसा खतरनाक हो कि देखकर लोगो की रूह फना हो जाये'

'जी आप सच कहते है, तब तो मै नही, मेरी पत्नी इस पद के योग्य है उसका स्वभाव तो बिलकुल ऐसा ही है।'

२

'एक आदमी एक तस्वीर हाथ मे लिये सुबकते हुए कह रहा था'—

'तुम क्यो मर गये ?'

एक राहगीर ने यह देखकर पूछा—'क्या वह तुम्हारा पिता था ?'

---

१ कादम्बिनी, जुलाई १९६३, पृ० ९५

'नहीं।'

'भाई था ?'

'नही।'

'मित्र था ?'

'नही, वह मेरी पत्नी का पहला पति था।'

३

डाक्टर[1]— मुझे बड़ा खेद है, आपकी पत्नी कुछ ही घण्टे की मेहमान है। अब कुछ नही हो सकता। मन को दुखी न करे।'

पति— कोई बात नही डॉक्टर, मै इतना दुखी हू कि कुछ घटे और दुख झेल लूगा।'

सचाई यह है कि इससे भी अधिक कटु अनुभव देखे गये हैं।

३२ आंख की लाज

एक बार एक साथी मुनि आये और बोले—'आज मै एक घर मे भिक्षार्थ गया। वहा एक भाई, क्योकि वह कभी दर्शन करने को नही आता अत मुझे देखकर लज्जा से दूसरे कमरे मे घुस गया और पर्दा डाल लिया।

'तुमने क्या किया ?'

मुझे क्या करना था ?'

'तुम उसे समझाने उस कमरे मे तो नही गये ?'

'नही, क्यो जाना चाहिए ?'

नही, कभी नही, उसके दिल मे इतनी लज्जा थी कि साधु क्या कहेगे। तभी तो वह पर्दे मे घुसा। उसकी वह आख की लज्जा मिटाना उचित नही। लज्जा भी सुधार का एक मार्ग है।'

'यह कैसे ?'

'क्या तुम भूल गये सेठ का कहना ?'

१ कादम्बिनी, जुलाई १९६३, पृ० १३२

'क्या ?'

'सुनो, एक सेठ का लडका शराबी बन गया। कई बार सेठ के पास शिकायत पहुच चुकी कि वह अपने मित्रो के साथ होटल मे शराब पीने जाता है। सेठ को अपने कानो पर विश्वास नही हुआ। उसने प्रत्यक्ष देखना चाहा। अवसर पाकर शिकायत करने वाले सेठ को होटल मे ले गये और रगे हाथो पकडवा दिया।

लडका अपने पिता को वहा देख सकपका गया। सोचा, अब मुह कैसे दिखाऊ ? पर छिपे भी तो कहा ? स्थान और था नही, सामने अगरबत्तिया जल रही थी, उनकी ओर अपना मुह छिपाना चाहा। उसकी यह लज्जा-शीलता देखकर सेठ यह कहते हुए लौट पडे, 'अभी इसकी आख मे शर्म है। अत स्वय ही सुधर जायेगा।' अन्त मे सेठ का विश्वास सच्चा निकला। अर्थात् जब तक आख मे लज्जा है, तब तक सब कुछ हो सकता है। लज्जा भी बहुत बडी चीज है।

दो बाते लोक का सरक्षण करती हैं।'[1]

'कौन-सी दो ?'

'लज्जा और सकोच।'

'जिसे लज्जा नही, उसके लिए तथागत बुद्ध ने कहा है 'जिसे लोक-निन्दा के भय की तनिक भी परवाह नही, उसे चाण्डाल समझना चाहिए।'[2]

३३ रूढ़ि की जड़

कामायनी मे लिखा है—

'बन जाता सिद्धान्त प्रथम, फिर पुष्टि हुआ करती है।'

नेता पहले सिद्धात गढ लेता है। अनुगामी लोग उसको परखने मे न उलझकर येन-केन-प्रकारेण उसकी पुष्टि किया करते हैं। रुढि मे फस जाते हैं। अत धर्म-प्रवर्तक का कर्तव्य होता है कि वह आने वाली जडताओ से

---

१ इति वुत्तक, २/१५

२ बुद्धवाणी, ६९/११

अपने भक्तो को बचने का बोध पहले ही मै दे दे ।

कहा जाता है, जब मुहम्मद साहब मरणासन्न थे तब भक्त-मण्डली एकत्रित होकर आयी और उनका अन्तिम उपदेश सुनना चाहा ।

मुहम्मद साहब ने कहा—'जिस खजूर की छाह मे मैं तुम लोगो को उपदेश सुनाया करता था, पहले उसे काटकर आओ ।'

सुनने वाले भी सन्न थे । कानाफूसी मे लग गये, इस अनावश्यक कालक्षेप का क्या अर्थ ? अन्त मे निवेदन किया— यह कार्य तो हम बाद मे भी कर लेंगे । आपका यह अन्तिम समय है । कही हम उपदेश से वचित न रह जाए ।'

बात का भेद खोलते हुए मुहम्मद साहब ने कहा—'भाई, मुझे ऐसा लग रहा है, पीछे यह वृक्ष कटेगा नही । लोग इसे यह मानकर पूजेंगे कि पैगम्बर साहब यहा बैठकर उपदेश दिया करते थे । इसलिए मेरे जीते-जी इसे काट आओ । मैं नही चाहता कि मेरे भक्त बताये गये उपदेशो को भूल जाए और जड-पूजा मे फस जाए ।

जब मैंने 'सस्कृति के चार अध्याय' मे यह घटना पढी, तब सहसा तथागत बुद्ध का वाक्य स्मरण हो आया—

'मेरे परिनिर्वाण के पश्चात् मेरे शरीर की पूजा करने की माथापच्ची मे न पडना । मैंने तुम्हे जो सन्मार्ग बताया है, उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना ।'[1]

मेरी प्रतिमाए न बनवायी जाए, मेरी पूजा न की जाए । यदि मेरे उपदेशो पर तुम लोग चल सको, तो वही मेरी सबसे बडी पूजा होगी ।'[2]—पर देखिए आज क्या हो रहा है ?

---

१ बुद्धवाणी, ८७/६

२ दीपवश, ८/११

३४ जन-जन को मन राखता

दो पथ हैं, एक जनप्रियता का, दूसरा न्यायप्रियता का। प्रश्न है व्यक्ति जनप्रिय बने या न्यायप्रिय ? लगा ऐसा—इस मोही मानव को न्यायप्रियता की अनूनी शिला चाटना पसद नही। क्योकि जनप्रियता की मोहकता उससे छूट नही सकती। वह चाहता है उसके प्रत्येक तौर-तरीके जन-मनरजनकर्ता हो। वह भूल बैठा है राजस्थानी कवि की यह उक्ति—

'**जन-जन को मन राखता, वेश्या रेगी बाझ**' कोई भी युग क्यो न हो, एक व्यक्ति सबको सतुष्ट कर जी नही सकता। यह दुनिया है, इसकी दोष सग्राहक दृष्टि बहुत पैनी है। जनतुष्टि मे पडकर महात्मा जी कैसे हैरान हुए, इस उदाहरण मे देखिए—

'एक भोले-भाले बाबाजी एक जगह सोये हुए थे। पश्चिम की ओर पैर थे। मीठी नीद आ रही थी।

एक व्यक्ति वहा आया और उन्हे जगाकर उलाहना देते हुए बोला—'पश्चिम की ओर पैर, हन्त! हन्त! कितना अज्ञान! मुनिजी, पश्चिम की ओर तो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की द्वारिका नगरी है, उस ओर पैर? कुछ भी होश नही?'

बाबाजी थे भद्रप्रकृति के। सोचा, इसे क्यो नाराज करे, और पश्चिम की ओर सिरहाना करके सो गये।

इतने मे दूसरा व्यक्ति आया और महात्मा जी को टोकता हुआ बोला—'ढोगी, पूर्व की तरफ पैर? पूर्व मे तो जगन्नाथपुरी है। भूल गया 'जगन्नाथ के भात को जगत पसारे हाथ' उठ? उठ?' बाबाजी ने उसकी बात भी रख ली और दक्षिण की ओर पैर कर सो गये।

तीसरा व्यक्ति आया और घृणा की भाषा मे बोला—'मूर्ख, दक्षिण मे तो रामेश्वर भगवान् है, कुछ होश है या नही?'

मनुष्यो की प्रकृति होती है—विना पूछे ही परामर्श देने की। चौथे ने उत्तर मे बद्रीनारायण का धाम बताया। बाबाजी ने शीर्षासन लगा लिया। पाचवे ने यह कहते हुए टोका—'धूर्त! मुनि बना है, निर्वाण प्राप्त करने के लिए? ऊपर की ओर ही तो निर्वाण है। सारे महर्द्धिक देवो के स्थान

हैं। सूर्य और चन्द्र भगवान् भी उधर ही हैं। अरे, पेटूराम! इतना तो सोचना था! कर दिये उस ओर पैर!' बाबाजी हैरान! अब करे तो क्या! खूब गभीर चिन्तन से इस निर्णय पर पहुचे—सबका कहना सही। मुझे सबको सतुष्ट करके चलना है। अत मैं अपने कष्टो की चिंता न करके खडा ही रहूगा। बस, फिर क्या था, खडे हो गये। पर ऐसे भोलो की कब खैर हो सकती थी। आ पहुचा छठा व्यक्ति, लगा फटकारने—क्या, तू साधु है। अरे मूसलचन्द! पाताल मे शेष-शय्या पर तो विष्णु भगवान् लेटे हैं, लक्ष्मी पैर दबा रही हैं और उनके सिर पर पैर! हाय! हाय! कितना बडा अज्ञान, घोर अविनय! हे प्रभु! ऐसे को सद्बुद्धि दो।'

साधुजी अजब परेशानी मे थे, करे भी तो क्या? किससे पूछे किधर करे पैर? किसी को असतुष्ट नही करने का भीष्मव्रत जो था। वे भूल बैठे दुनिया त्रुटिया निकालने व दूसरे को बुद्धू बनाने मे सिद्धहस्त है। जन-सतुष्टि मे भी ऊपर मन तुष्टि या न्यायपुष्टि का स्थान है। जन-प्रवाह अरोक होता है। इसीलिए तो भगवान् महावीर ने कहा था, 'अज्ञानी ही कहा करता है, मैं जनमत के साथ हू।'[1] अज्ञानी को तथागत बुद्ध का यह वाक्य स्मरण रखना चाहिए और अपने दिमाग को सतुलित रखना चाहिए 'यह पुरानी बात है, कुछ आज की नही, कि जो नही बोलता, उसकी भी लोग निन्दा करते हैं और जो बहुत बोलता है, उसे भी दोष लगाते है। इसी तरह मितभाषी की निन्दा करते हैं। ससार मे ऐसा कोई नही, जिसकी लोग निंदा न करे। बिलकुल ही प्रशसित पुरुष न कभी हुआ न होगा और न आजकल है।'[2]

३५ कुत्ते ने कान फड़फड़ाया

प्राय देखा जाता है कि बहुत से व्यक्ति प्रगतिशील होने का दावा करते है, पर उनके व्यवहार मे पग-पग पर रूढिवादिता की झलक होती है। उन्हे

---

१ उत्तरा, ५/७

२ बुद्धवाणी, ६१/२५

यदि भान कराया जाए कि उनके कार्य रूढ़िगत हैं, तो वे उसे स्वीकार नही करते प्रत्युत विवाद करने लगते हैं। आश्चर्य ही क्या ! मानव रूढियो के जाल मे फसने वाला भोला पक्षी ही तो है। छोटी-सी घटना ही लीजिए—

एक बार मैं एक जनसेवक के घर जो अपने क्षेत्र के बहुत बडे सुधार-वादी नेता माने जाते थे, भिक्षा लेने गया। मकान की साज-सज्जा को देखकर मन गुनगुना उठा —

'निष्किचन जनसेवक के घर, भरे हुए भडार बहुत है।'

मै मकान की पाचवी मजिल पर था। इतने मे नीचे के चौक मे कुत्ते ने कान फडफडाये। छोटे-मोटे सारे थूकने लगे। मैंने ऐसे करने का कारण पूछा, तो उसकी पुष्टि करने लगे। पर मेरा समाधान नही हुआ। मैंने कहा—इस विषय मे तो यह कहा जाता है—

एक जगह एक कथा-वाचक कथा कर रहे थे। श्रोतागण भी पर्याप्त सख्या मे थे। इतने मे पास से गुजरते हुए कुत्ते ने कान फडफडाये। कान फडफडाने से एक बग (कान मे रहने वाला एक कीडा) कथा-वाचक जी के मुह मे पड गया। कथा-वाचक जी ने मुह फेर कर थूका। श्रोताओ ने कथा-वाचक जी का अनुकरण किया। दुनिया अनुकरणप्रिय जो ठहरी। तभी से यह प्रथा चल पडी, जो आज इस ज्ञान-विज्ञान के युग मे भी जीवित है। कुत्ते के कान फडफडाने पर थूकने की उपयोगिता के दर्शन दुर्लभ ही है। पर रूढिग्रस्त मानव को कोई समझाये भी कैसे ? ऐसे लोग प्राय वाद-विवाद मे विशारद होते है। तथागत बुद्ध ने कहा जो है—'जिस मनुष्य ने तमाम रूढमतो को छोड दिया है, वह फिर किसी के साथ विवाद नही करता।'[१] किंतु ऐसे चिंतनशील मनुष्य हैं कितने ?

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ५२/२६

३६. 'उत्पादन बढ़ाओ' का नारा

मई १९६३ के 'नवनीत' मे मैंने पढा—'एक दिन मैंने अपनी पड़ोसिन से पूछा—आप अपने सब बच्चो को एक जैसे कपडे क्यो पहनाती हैं ?' उन्होने बडी सादगी से उत्तर दिया—'जब हमारे चार बच्चे थे तो हम उन्हे एक जैसे कपडे इसलिए पहनाते थे कि बाजार मे कही कोई बच्चा छूट नही जाये। अब जबकि बारह बच्चे हैं तो हम उन्हे एक जैसे कपडे इसलिए पहनाते हैं कि बाजार से लौटते समय कही किसी और के बच्चे को साथ न ले आए।'

यह है उत्पादन बढाओ के नारे की सफलता। कभी ऐसा भी समय रहा होगा, जब मानव समाज की धारणा थी—'बहु परिवारी बहुसुखी' पर आज भुक्तभोगियो के स्वानुभूत तथ्य है—'बहु परिवारी बहुदु:खी' इधर आज तो आशीर्वाद भी **पुत्रवती भव** की जगह **सूपवती भव** का—दिया जाने लगा है। तथागत बुद्ध का यह वाक्य भी सामने है—

'मूर्ख सोचता है, कि यह पुत्र मेरा है यह धन मेरा है ! अरे, जब यह शरीर ही अपना नही है, तब किसका पुत्र और किसका धन ?'[1]

फिर भी आज का मानव सन्तति नियन्त्रण (Brith Control) करने के लिए कृत्रिम और घृणित साधन अपनाने को तैयार है। पर आत्म-नियन्त्रण (Self Control) का रास्ता उसे नही भाता।

३७ कार्यकर्ता कैसा हो ?

सन् १९५९ के फरवरी मे होने वाले सर्वोदय सेमिनार (परिसवाद) मे भाग लेने के लिए मैं हटुन्डी (अजमेर) मे था। एक दिन 'कार्यकर्त्ता कैसा हो' विषय पर सुप्रसिद्ध गाधीवादी विचारक शकररावदेव ने अपना सक्षिप्त वक्तव्य देते हुए कहा—'अन्यान्य बातो के साथ कार्यकर्त्ता घुलन मिलन स्वभाव वाला हो, जहा जाए वहा सब मे घुलने की क्षमता रखे। घुले भी,

१ बुद्धवाणी, पृ० ४२/२४

दूध मे जामन की तरह, जो आमूलचूल परिवर्तन कर दिखाये।' मैंने जब उनके मुह से घुलन-मिलन का शब्द सुना तब विनोबा का यह वाक्य याद आ गया—

कार्यकर्त्ता हमेशा 'र' के समान होना चाहिये।

'पर्व' मे जिस प्रकार 'र' शीर्षस्थ रहता है, उसी प्रकार वह जनता का शीर्षस्थ या अगुआ रहे, उसका नेतृत्व करे।

'ह्रास' मे जिस प्रकार 'र' पीछे रहता है, उस प्रकार लाभ तथा नाम की प्रसिद्धि मे वह पीछे रहे।'

'विप्र' मे जिस प्रकार पेट मे प्रवेश कर बैठा हुआ रहता है, इसी प्रकार जनता के हृदय मे उसके लिए आदर का स्थान रहे।

'राष्ट्र' मे जिस प्रकार पैरो के समीप रहता है, उसी प्रकार वह सब के साथ एक समान भाव रखे।

'वक्र' मे जिस प्रकार साथ-साथ रहता है, उसी प्रकार वह सब के साथ रहे।

'आर्द्र' मे जिस प्रकार शीर्षस्थ तथा पेट मे प्रवेश कर बैठा हुआ रहता है, उसी प्रकार कार्यकर्त्ता को जनता का अगुआ रहना चाहिए तथा जनता के अन्त करण मे उसके लिए स्थान होना चाहिए।'[1]

मुझे जब अपने विचार रखने को कहा गया तो मैंने कहा—श्री शकररावदेव ने कार्यकर्त्ता को 'जामन' की तरह बनने के लिए कहा, पर देखना यह है कि जामन कही मक्खन निकाले हुए दूध का तो नही है। यदि सार निकले जामन से दही जम भी गया तो वह दही भी जामन जैसा ही होगा। अत 'आचार नियम-द्वारा अपने को सयत रखना।'[2] तथागत बुद्ध के इस वाक्य को कार्यकर्त्ता कुतुबनुमा की सुई मानकर चले। और यह भी समझ ले कि 'जिनके पास न अपना ज्ञान है और न सदाचार, ऐसे लोग भूतल पर वन मे अंधे भैसे की तरह फिरते हैं।'[3]

१ नवनीत, पृ० ७८ जून, १९६३।

२ बुद्धवाणी, १/२

३ जातक, ४/४०६/८१।

३८. गृहस्थाश्रम या संन्यास

भारतीय संस्कृति ने मानव के सामने एक चिन्तन रखा—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासी के रूप मे वह अपने जीवन को चार भागो मे विभाजित कर दे। असाधारण व्यक्तियो को इस व्यवस्था से मुक्ति देते हुए स्पष्ट कहा—'**यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्**'[1] जब विरक्ति हो, तब ही अनासक्त बन सकता है। पर सभी तो असाधारण नही होते। बहुत तो साधारण ही होते हैं। असगता तो दूर रही, कइयो को अपने मार्ग-चयन मे भी दूसरो का सहारा लेना पडता है—

'काशी मे रहने वाला एक विद्यार्थी, जिसने पच्चीस वर्ष का समय ब्रह्मचारी रहकर विद्यार्जन मे लगाया, इस विचार मे पड गया—अब गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करू या सन्यासी बनू। पर्याप्त सोच-विचार करने पर भी निर्णय नही कर सका। लोगो का उचित परामर्श भी मिला फिर भी निर्णय कुछ नही निकला। अन्त मे हारकर वह एक दिन मध्याह्न मे भक्त कबीर के पास सलाह लेने आया। कबीर जुलाहे तो थे ही, बैठे ताना-बाना बुन रहे थे। उसने प्रणाम किया और आने का कारण बताया। कबीर ने अपने पास बैठाया और पुन अपने काम मे लग गये। थोडी ही देर मे अपनी घरवाली को आवाज देकर कहा—'अन्धी कही की! अभी तक दीपक नही जलाया। मैं इस घोर अन्धकार मे इन धागो को कैसे सुलझा सकता हू ?'

पत्नी ने कुछ नही कहा और दीपक जलाकर रख दिया। विद्यार्थी उनकी इस हरकत पर हैरान था और मन-ही-मन मे सोच रहा था जो व्यक्ति स्वय ही इतना नासमझ है, वह मुझे क्या मार्ग दिखायेगा?

साय समय कबीर जी उसको लेकर गगा-स्नान करने गये। लौटते समय मार्ग मे एक सन्यासी की टेकरी पर रुके। मकान की ऊपरी मजिल मे एक बूढे बाबा अपनी अलख जगा रहे थे। कबीर ने आवाज दी—'बाबाजी, दर्शन दीजिये।' बाबाजी ने नीचे उतरकर दर्शन दिये और लौट गये। कुछ देर बाद पुन कबीर ने आवाज देकर बुलाया, मुनिजी भी पुनः

---

१ बुद्धवाणी पृ० ६३/४२

नीचे आये। फिर तीसरी बार पाद-स्पर्श के बहाने बाबा जी को नीचे बुलाया। मुनिजी उसी प्रसन्नमुद्रा मे आये। उन्होने पूछा तक नही कि मुझे बार-बार क्यो बुलाते हो ?

कबीर और वह विद्यार्थी जब अपने-अपने घर जाने लगे, तब बात का भेद खोलते हुए उन्होने कहा—यदि गृहस्थ बनना है, तो घर मे ऐसा प्रेम का वातावरण बनाओ, जिससे बिना ननुनच किये घरवाली मध्याह्न मे भी दीपक जला दे और सन्यासी बनना है तो इतने शान्त बनो, जितने कि बाबाजी। यदि दोनो ही काम नही कर सकते हो, तो इस गगा मे डुबकी लगा लो अर्थात् जीना बेकार है। अलग-अलग क्षेत्रो के लिए अलग-अलग मर्यादाए है। गृहस्थ जीवन और सन्यासी जीवन के आचार नियम अलग-अलग हैं। तब ही तो तथागत बुद्ध ने कहा—साधु हो तो—

'अनियमित और मिथ्याभाषी मनुष्य मूड मुडाने मात्र से ही भिक्षु नही हो जाना। क्या ऐसा मनुष्य भिक्षु हो सकता है, जो वासना और लोभ से युक्त हो ?'[1]

'भिक्षा मागने मात्र से कोई भिक्षु नही होता। भिक्षु वही होता है जो धर्मानुकूल आचरण करता है।'[2]

तथा गृहस्थ हो तो—

'सदाचार-रत मनुष्य इस लोक मे प्रशसा पाता है, और परलोक मे सद्गति।'[3]

'चाहे गृहस्थ हो, चाहे सन्यासी, यदि वह मिथ्या प्रतिज्ञा वाला है, तो वह मिथ्या प्रतिपत्ति (मिथ्याचरण) के कारण कुशल धर्म का आराधक नही हो सकता।'[4]

'जिस श्रद्धालु गृहस्थ मे सत्य, धर्म, धृति और त्याग, ये चार गुण है, वह इस लोक मे परलोक मे जाकर शोक नही करता।'[5]

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ६३/४४

२ वही, पृ० १०२/११०

३ बुद्धवाणी, पृ० १०५/१३४

४ बुद्धवाणी, पृ० १०६/१४०

५ वही।

३६ फूल का सौंदर्य भी कष्टप्रद

उदयपुर की 'सहेलियो की बाडी' अपने आप मे मनोरम सौन्दर्य को सजोए हुए राजस्थान के विशिष्ट दर्शनीय स्थानो मे से एक है। एक बार मैंने वहा देखा—एक व्यक्ति टहनियो से अठखेलिया करते हुए फूलो को तोड रहा था। उन फूलो की मीठी-मीठी सुगन्ध, चित्त लुभावनी सुषमा और काटो मे भी खिलने की प्रकृति देखकर मेरे मन मे आया—भगवान् महावीर ने कहा है—**'सव्वे कामा दुहावहा'**[1] यह सभी भोग सामग्रिया दु:खप्रद हैं, पर इनकी सुषमा और सुगन्ध तो सभवत देवो का भी मन मोह लेती होगी ये सुकुमार कुसुम-कलिया क्या दु ख दे सकती हैं ? यो चिन्तन मे तल्लीन अपने स्थान पर आया और सदा की तरह ही लग गया अपनी चर्या मे। इतने मे ही पास मे पडे १८ अगस्त १९६३ के धर्मयुग पर दृष्टि गई और पृष्ठ २९ पर पढा—

'एक बार नेहरू जी दिल्ली मे खादी ग्रामोद्योग प्रदर्शनी देखने आये। तब उनको खूब फूल-मालाए पहनाई गयी। फूल-मालाए पहने-पहने जब नेहरू जी मधुमक्खी पालन स्टाल पर पहुचे तो उन्होने झट से सारी मालाए उतारते हुए हसते-हसते एक चुटकुला सुनाया—एक मन्त्री महोदय किसी नुमाइश मे गये। वहा लोगो ने उन्हे खूब फूल-मालाए पहनायी। मन्त्री महोदय इस अपूर्व स्वागत पर फूले नही समाये। तभी फूलो की भीनी-भीनी सुगन्ध पाकर मधुमक्खियो का एक दल उन पर टूट पडा। मन्त्री महोदय बचने के लिए भागे। लेकिन मधुमक्खिया कब उनका पीछा छोड़ने वाली थी। बडी मुश्किल से मन्त्री महोदय की जान बची। लेकिन तब तक उनका मुह फूलकर गुब्बारा बन चुका था।'

तब सहसा अन्तर्ध्वनि निकली **'तमेव सच्च णीसक जजिणेहि पवेइय'**[2] भगवान् ने कहा—वही सत्य है। मन मे आया, यह मोही मानव फूलो-सी सुकुमार सुख की घडियो मे भूल जाता है, तथागत बुद्ध के इस अमर वाक्य को—

---

१ उत्तराध्ययन, १३/१६

२. आचाराग ५/५

'सौन्दर्य के विषय मे आसक्ति न रखना ही, सौन्दर्यजन्य भय से मुक्त होने का सच्चा मार्ग है।"[1]

४० तर्क का लचीलापन

तथागत बुद्ध ने एक जगह कहा—'वाद-विवाद के युद्ध मे प्रवृति करने वाला मेरा अहकार पहले ही नष्ट हो चुका है। अब विवाद करू तो कैसे ?'[2]

ये एक विज्ञसाधक के उद्गार हैं, पर अल्पज्ञ तो अखाडेबाजी मे उतरने मे ही अपना गौरव गिनते है। वे भूल बैठे हैं, तर्क की निस्सारता। तर्क का अस्तित्व अपने आप मे ही सारहीन होता है। उसे जैसे बिठाते है, वैसे ही बेठ जाता है। देखिये उसके दो चित्र—

(१)

एक व्यक्ति होटल मे खाना खाने गया। सारी सामग्री से सजी हुई तश्तरी मेज पर रखी गई। खाना खाते समय वह बोला—'कचौरिया तो कल की है।'

होटल वाला—'तो क्या हुआ, कल कोई खराब दिन था क्या ?'

(२)

तीन व्यक्ति पकडकर जेल मे लाये गये। तीनो ने एक-दूसरे से कैद होने का कारण पूछा—

पहला—मैं इसलिए पकडा गया कि मै फटे कपडे पहने था, इससे किसी विदेशी को हमारे (देश) गरीब होने का अनुमान हो जाता।

दूसरा—मै इसलिए पकडा गया कि मै कीमती कपडे पहनता था। इससे यह शक हुआ कि मेरे पास धन अधिक है। (अर्थात् मै चोर हू।)

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ४६/१२

२ वही, पृ० ५१/२०

तीसरा—मैं इसलिए पकडा गया कि मैं बिल्कुल ठीक कपड़े पहनता था, न फटे न कीमती। इससे यह शक हुआ कि विदेशियो के प्रभाव से मुझे ठीक कपडे पहनना आया है। अत. मेरा सम्बन्ध किसी विदेशी गुट से है। मेधावी मानव तर्क की निस्सारता समझे।

४१ स्त्रिया चरित्रम्

तथागत बुद्ध ने कहा—'कोई-कोई स्त्री तो पुरुषो से भी श्रेष्ठ निकलती है यदि वह बुद्धिमती, सुशीला और बडो का आदर करने वाली तथा पतिव्रता हो तो उसे कौन दोष दे सकता है ?'[1] स्त्री का पतिव्रता होना उसका प्रमुख गुण माना गया है और उसका चरित्रहीन होना, बडे से बडा दुर्गुण।

ऐसी ही दुर्गुण वाली कुलटा के लिए कहा है—**'स्त्रियां-चरित्र पुरुषस्य भाग्य, देवो न जानाति कुतो मनुष्य'** प्रश्न हो सकता है, वह ऐसा क्या चरित्र कर सकती है ? देखिये दो चित्र—

'एक ईर्ष्यालु पति को अपनी पत्नी के चरित्र पर सदेह हुआ तो वह बाजार से एक ऐसा तोता खरीद लाया, जो देखकर सारी बाते बता देता था। उसने तोते को समझाया कि वह उसकी पत्नी पर नजर रखे और लौटने पर जो कुछ देखे वह बता दे।

(१)

एक दिन जब पति कार्यवश बाहर गया हुआ था तो उस का एक मित्र आया। तोता उन दोनो को देखता रहा कि दोनो प्रेमी कब क्या करते हैं। क्योकि उसके मालिक ने कह रक्खा था कि कोई बात छूटनी नही चाहिए। जब पति घर लौटा तो एकान्त मे तोते ने उसे सविस्तार सारी घटना बता दी। उसे अपनी पत्नी पर बडा क्रोध आया उसने उसे घर से निकलने तक को कह दिया।

पत्नी को अपनी नौकरानी पर शका हुई। नौकरानी ने बताया कि यह

---

१ बुद्धवाणी पृ० १०१/१०७

कार्य उस नये तोते का है जो घर मे लाया गया है ।

दूसरे दिन जब पति काम पर गया तो पत्नी ने तोते को लेकर ऊपर से ढक दिया और ऊपर से पानी डालना आरम्भ कर दिया, मानो धुआधार वर्षा हो रही हो । दर्पण लेकर उसने सूर्य के प्रकाश को बार-बार इस प्रकार चमकाया, मानो बिजली चमक रही हो और एक चक्की का पत्थर लेकर यू रगडा मानो बादल गरज रहा हो । यह कार्य पूरे दिन होता रहा ।

जब पति ने लौटकर तोते से पूछा—तो तोते ने उत्तर दिया—'मै न तो कुछ देख सका न सुन सका, क्यो कि जब से आप गये तब से धुआधार वर्षा, बादल की गर्जन एव बिजली की चमक के मारे मेरा बुरा हाल रहा है ।'

उस व्यक्ति को क्रोध आ गया 'तो लगता है तुमने मेरी पत्नी के विषय मे बनाया था वह भी इसी तरह झूठ, मनगढन्त कहानी थी। बेवकूफ मै अभी तुम्हारा सिर काटे देता हू' कहकर उसने उस तोते को मार डाला। और उसने अपनी पत्नी से क्रोध के लिए क्षमा-याचना की, दोनो सुखपूर्वक रहने लगे ।

(२)

एक स्त्री के दो प्रेमी थे[१] । एक दण्डनायक था, दूसरा उसी का पुत्र एक दिन पुत्र उस स्त्री के यहा बैठा वार्तालाप कर रहा था । उसी समय उसका पिता आ गया । स्त्री ने पुत्र को घर मे छिपा दिया । थोडी देर के पश्चात् ही उस स्त्री का पति भी आ गया । दण्डनायक घबराया, लेकिन स्त्री ने उससे कहा कि—तुम चले जाओ । उसने दरवाजा खोल दिया और दण्डनायक निकल गया । स्त्री के पति ने अन्दर आकर पूछा— दण्डनायक क्यो आया था ? उसने उत्तर दिया—

'दण्डनायक का पुत्र के साथ झगडा हो गया था । अपने पिता के क्रोध से बचने के लिए यह लडका यहा आ गया । इसको मैंने पिछले कमरे मे छिपा लिया था । दण्डनायक यहा आया और आकर किवाड इसलिए बद

---

१ हिन्दी साहित्य मे हास्यरस, पृ० ६५

कर लिये कि लडका कही भाग न जाय और उसे तलाश करने लगा। लेकिन जब लडका उसे नही मिला तो क्रोध करता हुआ निकल गया। पति अपनी पत्नी की दयालुता एव उदारहृदयता पर अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

४२ एक पोस्टकार्ड
(उऋण न हो सका)

एक दिन मैं अपने स्थान के बरामदे मे खडा था। इतने मे एक पोस्टमैन (डाकिया) आया और मस्ती मे झूमता हुआ सामने वाली दुकान पर दो-चार पत्र फेंककर सपाटे से चला गया। पचासो पत्र उसके हाथ मे थे। पत्र सयोग-वियोग, हानि-लाभ आदि विविध सयोगो के होगे। फिर भी पोस्टमैन की '**लाभालाभे सुहेदुक्खे**'[1] समवृत्ति-सी स्थिति हर एक के लिए बोध-पाठ का काम कर रही थी। शीघ्रता से काम निपटाने की धगस '**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**'[2] का ज्वलन्त उदाहरण-सा लगा। मैं इस असगता पर विचार कर रहा था, इतने मे एक पत्र लेकर एक भाई आया। जिसकी कुछ पक्तिया निम्न है—

'लिखी रायसिहनगर से मगलचन्द थानमल सुराणा का जयजिनेन्द्र बचना। अपरच यहा के समाचार ऐसे ही है, आपके सदा भला चाहिए। बाई मोहिनी मिती सावण सुदी १४ की रात को बीकानेर मे काल प्राप्ति हो गई। पेट का आपरेशन हुआ था। काफी समय से बीमार चल रही थी, हम लोगो का ऐसा ही सयोग था क्या उपाय, अन्तिम सस्कार सावण सुदी १५ सोमवार को किया गया।'

मैंने पत्र पढा। दिल मे कुछ विचार आया, बहिन मोहनी मेरी ससार पक्षीय बडी बहिन थी। बहिन ही नही, बचपन से ही मेरा पालन-पोषण उसी के दुलार भरे हाथो से हुआ था। मेरे मे इन धार्मिक सस्कारो के बीज बोने का श्रेय भी उसे ही दे दू तो भी अत्युक्ति नही होगी। अत. यह धोखा

---

१ उत्तराध्ययन, १९/९१
२ गीता, २/४७

भी रह-रहकर दिल को कचोट रहा था, मैं उसे अन्तिम समय मे दर्शन, अनशन आदि का सहारा देकर उऋण नही हो सका। यो दिल में भावो के कई उतार-चढाव आये। सम्भवत छद्मस्थता के नाते इस वियोग व्यथा मे और भी उलझ जाता, पोस्टमैन जैसी समस्थिति नही रख पाता पर तथागत बुद्ध के वाक्य याद आ गये। जिससे एक अद्भुत आत्मशान्ति का अनुभव हुआ—'ऐसा कोई उपाय नही कि जिससे मृत्यु न हो। जिसने जन्म लिया है, वह मरेगा अवश्य। प्राणियो का स्वभाव ही मृत्यु है।'[१]

'छोटा हो या बडा, मूर्ख हो या पण्डित, सभी मृत्यु के अधीन है। ये सभी प्राणी मृत्यु परायण है।'[२]

४३ प्रशसक अणुव्रती

एक दिन कुछ भाई मेरे पास बैठे थे। प्रसगवश एक भाई ने एक व्यक्ति से पूछा—आप अणुव्रती है?

'अवश्य' दृढता भरे शब्दो मे उसने उत्तर दिया।

उसने साश्चर्य पुन पूछा—'कब से ?'

'जब से अणुव्रत आन्दोलन चला, तब से।'

'तो आप ब्लैक नही करते ? आप तोल-माप मे गडबड नही करते ?'

'नही, क्यो ?'

'तब अणुव्रती कैसे ?'

'मै प्रशसक अणुव्रती हू। कोई प्रवेशक, कोई पूर्ण, मै तो प्रशसक अणुव्रती हू।'

'क्या मतलब ?'

'मतलब ? अणुव्रत के नियमो की मुक्त कठ से प्रशसा करने वाला हू।' सुनने वाला मौन था, क्या बोलता। उसकी बात सुनकर मुझे तथागत बुद्ध का एक वाक्य स्मरण आ गया—

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ४२/१

२ वही, पृ० ४३/४

'चाहे जितनी ही धर्म सहिताओ का पाठ करे, किन्तु प्रमादी मनुष्य उन सहिताओ के अनुसार आचरण करने वाला नही होता, अत वह श्रमण अर्थात् साधु नही हो सकता । वह तो उस ग्वाले के समान है जो दूसरो की गायो को गिनता रहता है ।'[1] नियम व धर्म की मौखिक प्रशसा मात्र करने वाले सोचे 'शील रहित व्यक्ति का मात्र ज्ञान से कल्याण नही हो सकता ।'[2]

४४ दूब ने गुलाब से कहा

मनोवैज्ञानिक तथ्य है मनुष्य कुछ न कुछ करता रहे, निठल्ला न रहे । निकम्मा-निठल्ला व्यक्ति वह आदर नही पा सकता है जो एक कर्मयोगी पाता है । जहा समाज-शास्त्रियो ने कहा—काम प्यारा है, चाम नही, वहा अध्यात्म-शास्त्रियो ने ज्ञानयोगी से कर्मयोगी को श्रेष्ठ माना है । वस्तुत देखा जाय तो प्रकृति का नियम भी कुछ ऐसा ही है । देखिये गुलाब के पौधे और दूब का सवाद—

उद्यान मे फूल रहे गुलाब के पौधे ने जब देखा कि हर बार पूर्ण खिलने के पहले ही उसके पुष्प उससे छीन लिये जाते हैं, तब वह खीझ उठा । उसने निश्चय किया—भविष्य मे कभी वह अपने घर को इन सुरभित सुमनो से नही सजाएगा । वह निरन्तर उदास-विरक्त-सा रहने लगा ।

पास खडी दूब ने कहा—'पुष्पागार ! क्यो इतने कुठित होते हो ! अपने सौरभ को रोक ससार को नीरस मत करो । यौवन तुम्हारी प्रफुल्लता से निखार पाता है—प्रेमी तुम से प्रेरणा ग्रहण करते हैं । और भ्रमर-कीट प्रत्येक क्षण तुम्हारा गुणगान करते हैं, फिर इतना रोष क्यो ?'

मैं सदियो तक अपने आपको इस प्रकार लुटते नही देख सकता । अन्यो को दान करते-करते मैं स्वय खोखला हो चुका हू ।' रोष से पौधे ने उत्तर दिया ।

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ९५/६३

२ जातक, ५/३६२/६६

अभी उनकी बातचीत चल ही रही थी कि तभी वहां एक माली आया, क्षण भर उसने पुष्पविहीन पौधे की ओर देखा और फिर निरर्थक समझ उसे काटना शुरू कर दिया। पौधे का कण-कण उसके प्रहारों से कांप उठा।

दूब यह देख, दर्दभरी आवाज में बुदबुदाई—'नादान! तुम अन्त तक सृष्टिक्रम नहीं समझ सके। अनावश्यक का यहां कोई स्थान नहीं। दान कर प्रतिदान की आशा, परोपकार कर प्रतिफल की कामना, अनिष्टकर एवं स्वयं को पतन की ओर ले जाने वाली है। फिर सब कुछ देकर भी आज तक कोई रंक नहीं हुआ' और पौधे ने कातर दृष्टि से एक बार छुटकारे के लिए इधर-उधर देखा, लेकिन तब तक माली उसे काटकर एक अन्य बीज वहां लगा चुका था।

यह संवाद जब मैंने पढा तब मुझे कवि जुगलसिंह का वह पद याद आ गया—

'जुगल कहे कर जोड, फुरसत-फुरसत मत करो।
नर लेसी मुख मोड, फुरसत पाया हाकमां॥'

सारे संदर्भ का सार यह है कि व्यक्ति कुछ न कुछ करता रहे। अकर्मण्य का जीवन भी क्या जीवन है? अतः कर्मशील को सत्कर्म का बोध देकर तत्त्वद्रष्टाओं ने कर्म के मंगलमय क्षेत्र में उतारा। तथागत बुद्ध ने भी कहा था—'व्यवस्थित रीति से किए हुए कर्म उत्तम मंगल है।'[1]

४५ गिरती हुई नैतिकता

सभी धर्मप्रवर्त्तकों ने तथा धर्मोपदेष्टाओं ने आचारशुद्धि पर बल दिया है। आचारहीन व्यक्तियों के लिए भगवान् महावीर ने कहा— 'चरित्र-भ्रष्ट की अधोगति होती है।' वहां वैदिक परम्परा में कहा गया—'आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते।' पर मानव अनुकरणप्रिय है। वह जितना शीघ्र बुराइयों का अनुकरण करता है, उतना शीघ्र अच्छाइयों का

---

१ बुद्धवाणी, पृ० २/४

२ दशवैकालिक चूलिका।

नही। इसलिए आचार-विचार-हीन भ्रष्ट व्यक्ति से कोसो दूर रहना चाहिए। एक भ्रष्ट व्यक्ति कई व्यक्तियो को भ्रष्ट कर सकता है। इसलिए लोक-भाषा मे जहा—

बिगड्यो पान बिगाड़े चोली।
भागल साध बिगाड़े टोली।।

जैसी सूक्तिया चली, वहा तथागत बुद्ध ने कहा—'सघ मे कोई गृहासक्त, पापेच्छ, पाप-सकल्पी और पापाचारी भिक्षु देखने मे आये, तो तुम सब मिलकर उसका बहिष्कार कर दो, उस कचरे को फेक दो, सघ के उस सड़े हुए हिस्से को छील डालो।'

ऐसे-ऐसे सुखद घोषो से परिव्याप्त वायुमण्डल वाले हिन्दुस्तान के विषय मे मैंने साप्ताहिक हिन्दुस्तान २१ जुलाई, १९६३ के पृष्ठ ४६ पर पढा—

हाजमेदार चूरन का नोट (१)

सौ रुपये का नोट देख हाथरस के एक दुकानदार ने अपने ग्राहक से कहा—'भई! मेरे पास तो अस्सी रुपये ही हैं।' ग्राहक नोट भुनाने चला गया, क्योकि उसे दुकानदार को साढे दस रुपये देने थे। कुछ देर बाद लौटकर उससे कहा कि—सौ रुपये के खुले नही मिले हैं, इसलिए दुकानदार उसे अभी अस्सी रुपये ही दे दे, बाकी वह थोडी देर बाद ले जाएगा। दुकानदार को इसमे भला क्या एतराज! उसने सौ रुपये का नोट लेकर अस्सी रुपये दे दिए। ग्राहक शाम तक नही लौटा तो दुकानदार ने भुनवाने के लिए गल्ले मे से सौ का नोट निकाला और देखकर सिर पीट लिया। वह नोट सौ का नही, दो पैसे मे बिकने वाला विज्ञापनी नोट था, जिस पर किसी चूरन का विज्ञापन छपा था।

दाढी-मूछो वाली दुलहिन (२)

अलीपुर के निकट बडा उडवा गाव मे एक ऐसी बारात जा रही है जिसकी दुलहिन दाढ़ी-मूछो वाली है—यह सूचना पाकर रतलाम पुलिस

तुरन्त तहकीकात करने पहुची। पुलिस को करीब आता देख बारातियों ने तीर चलाये। पुलिस ने फायर किये। छ बराती मय दुलहिन के पकडे गये, बाकी फरार हो गए। बाद मे ज्ञात हुआ कि वह एक डाकूदल था, जो बचाव के लिए बारात का भेम बनाकर जा रहा था। जब कैदियो को नगर मे लाया गया तब हजारो लोगो ने दाढी-मूछो वाली दुलहिन के दर्शन किए।'

भारतीयो के गिरते नैतिक स्तर के ये छोटे से नमूने है। क्या अच्छा होता ऐसे समय तथागत बुद्ध के इन वाक्यो पर मनुष्य चिनन करता।

'क्रोधी, वैर मानने वाला पापी, गुणीजनो को दोष देने वाला, मिथ्यादृष्टि रखने वाला और मायावी मनुष्य ही वृषल अर्थात् चाण्डाल है।''[1]

'असयमी और दुराचारी होकर राष्ट्रपिड (देश का अन्न) खाने की अपेक्षा तो अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खा लेना श्रेष्ठ हे।'[2]

'जो मनुष्य कर्ज तो लेता है, पर जब लेनदार मागने आता हे तो साफ नट जाता है और कहता हें कि मुझे तो तेरा कुछ देना ही नही, उसे चाण्डाल समझना चाहिए।'[3]

'जो अपने लिए, दूसरो के लिए अथवा पैसे के लिए झूठ बोलता हे, उसे चाण्डाल समझना चाहिए।'[4]

४६ क्षणभगुरता

एक दिन सदा की भाति मैं लेखन मे व्यस्त था। करीब चार बजे होगे, मुनि श्री सोहनलाल जी ने आवाज देकर मुझे बुलाया और कहा—'अमुक बहिन व्याख्यान सुनने के लिए आ रही थी, राह मे गिर गई, सो जाओ दर्शन दे

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ६८/१

२ इतिवुत्तक, २/२१

३ बुद्धवाणी, पृ० ६८/४

४ वही, पृ० ६८/५

आओ।' मुनिश्री की यह सहज प्रकृति-सी है, भिक्षा लेने जाने मे कही विलम्ब भी हो जाये तो कोई आपत्ति नही, पर रुग्णावस्था मे दर्शन देने मे विलम्ब न होना चाहिए। मैं भी शीघ्र वहा से चला। जिसके घर पर पहुंचा, देखा, जो बहिन आध घण्टे पहले पूर्ण स्वस्थ थी, वही अब रोग से पूर्णतया आक्रान्त है। होश-हवास भी प्राय लुप्त है। परिवार वाले उसे घेरे खडे हुए हैं। उनका चेहरा व आखें इस बात की सूचना दे रही थी। कि मानो अब वह चन्द क्षणो की ही मेहमान है। मैंने सबको कुछ सामयिक उपदेश दिया, उसे मगल पाठ सुनाया और अपने स्थान पर आ गया। पर मन मे आ रहा था, इस क्षणभगुर शरीर का क्या भरोसा? अज्ञानी मानव किस बूते पर इतराता फिरता है? न जाने शरीर का कब क्या हो जाये। यो चिन्तन करते हुए तथागत बुद्ध के दो सूक्त ध्यान मे आ गये—

'यह क्षणभगुर शरीर रोगो का घर है। इस देह को सड-सड कर भग्न हो जाना है। आश्चर्य ही क्या, जीवन मरणान्त जो ठहरा।'[1]

'ऐसी क्षणभगुर और घृणित देह पर जो गर्व और दूसरो की अवहेलना करता है, उसका कारण सिवाय उसकी मूढता के और हो ही क्या सकता है।'[2]

४७ परान्नं दुर्लभं लोके

तथागत बुद्ध ने कहा—'मूर्खों की धारणा मे यह घुसा हुआ है कि ब्राह्मण जन्म से होता है।'[3] किन्तु 'अमुक माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नही कहता।'[4] वही,

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ३६/१

२ वही, पृ० ४०/१०

३ वही, पृ० ६७/१८

४ वही, पृ० ६७/१६

तत्त्वद्रष्टा योगेश्वर श्रीकृष्ण ने कहा—'कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते है'[1] एव 'मैने गुण और कर्म के विभाग से चार वर्ण बनाये।'[2] फिर भी कई इस अह मे अकडे—हम तो '**ब्राह्मणोऽस्य मुख मासीत्**' ब्रह्मा के मुह होने से पवित्रतम है। जब मुख का रूपक गढ गया तब कइयो ने स्पष्ट कहा—'लाभ का मौका सामने हो तो ब्राह्मण राजनीति, धर्म-नीति सब भूल जाते है। उनका तो बस नारा ही यह है '**चरैवेति चरैवेति**' यानी खूब चरो, खूब चरो। उन्हे पत्तो से तो सन्तोष ही नही होता। डण्ठल और छाल तक चबा डालते हैं।'[3]

इतना ही नही, ऐसी कुछ घटनाए भी आए दिन सुनने मे आया करती हैं—

श्राद्ध के दिनो मे भोजन बाहुल्य से एक ब्राह्मण-पुत्र को अजीर्ण हो गया था। तुन्द-परिमार्जक (पेट पर हाथ फेरने वाला) बना बैठा था। इतने मे ही निमन्त्रणार्थ एक यजमान पुन आ गया। तब पुत्र ने अन्दर बैठे अपने पिता मे कहा—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति नोद्‌गारा, अधोवायुर्न गच्छति।
निमन्त्रणमागत द्वारे, भो पित किं करोम्यहम् ॥

अर्थात् न तो डकार आती है, न अधोवायु ही होती है। पेट फूला हुआ है और निमन्त्रण पुन आ गया। पिताजी ! मैं अब क्या करू।

तब पिता ने भीतर बैठे ही कहा—

भोजन कुरु दुर्बुद्धे ! का चिन्ता मरणे तव।
मृते च प्राप्स्यसि जन्म, परान्न न पुन -पुन ॥

मूर्ख ! भोजन तो कर ही ले, मरने की क्या चिन्ता कर रहा है। मर ही गया, तो दूसरा जन्म कही न कही मिल ही जाएगा। पर पराया अन्न मुफ्त मे बार-बार थोडे ही मिलेगा।'

जब इन पेटूराम भोजन-भट्टो का सलाप सुना, तब मेरे मन मे आया

---

१ उत्तराध्ययन २५/३३

२ गीता, १८/४१

३ नवनीत, १९६३, पृ० ७५

तथागत बुद्ध ने ऐसे ही भोजन-भट्टो को लक्ष्य करके कहा था--

'जो पुरोहिताई करके अपनी जीविका चलाता है, वह ब्राह्मण नही, याचक है।'[1]

४८ लक्ष्मी को सूँघिये

भ० महावीर ने कहा—'गृहस्थ भी सुव्रती है।'[2] सुव्रती गृहस्थो की प्रामाणिकता को प्रकट करते हुए कहा गया—वे अपनी विश्वस्तता से राजाओ के 'असूर्यपश्याराजदारा' (ऐसी रानिया जो सूर्य का दर्शन भी न कर पाती थी) वाले अन्तपुरो मे भी प्रवेश पा चुके थे अर्थात् अत्यन्त विश्वासपात्र व प्रामाणिक थे। आज के विचारक भी सद्गृहस्थो के लिए प्रामाणिक जीवन आवश्यक समझते हुए उनके व्यवसाय के प्रति कहते हैं—

[3]"बाजार मे घी या तेल लेने जाते हैं, तो लेने से पहले उसे सूघते हैं। आम या अगरबत्ती खरीदते हैं, तो उसकी सुगन्ध लेते हैं। मिट्टी का घडा लेते हैं, तो उसे भी ठोक बजाकर खरीदते हैं। इस प्रकार जिसे हम ठोक बजाकर देख लेते हैं, या सूघकर पहचान लेते हैं, उसी को खरीद कर घर में लाते हैं। लेकिन हम घर मे जो लक्ष्मी लाते हैं, उसे न तो सूघते हैं, न चखते हैं, न ठोकते-बजाते हैं। वह तो चाहे जितनी, चाहे जहा से, चाहे जिस तरीके से आई हो, ग्रहण कर ली जाती है। चाहिए तो यह कि एक-एक कण की तरह एक-एक पैसे के बारे मे, हम अपने आपसे यह पूछना सीखे कि वह कहा से और किस तरह से आया ? वह नीति से, प्रामाणिकता से, धर्म से आया है या नही ? यह सूघकर जानना चाहिए। पर हमने यह आदत डाली ही नहीं। जो कमाया, उसे चट से घर मे दाखिल कर लिया। लेकिन जिस तरह हम खराब या खोटा माल घर मे लेकर नही रखते हैं,

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ६७/२०

२ उत्तराध्ययन, ७/२०

३ नवनीत, मई ६३, पृ० ७६

उसी तरह अनीति, अधर्म, अप्रामाणिकता से मिला पैसा भी घर मे नही लाना चाहिए। लक्ष्मी को सूघकर ग्रहण करना सीख जायेगे, तो सुख ही सुख हो जायेगा।

इस सारे सन्दर्भ के निष्कर्ष मे तथागत बुद्ध के दो वाक्य सर्वदा स्मरणीय हैं—

'चार कर्म-क्लेश क्या है ?'[1]

'हिंसा, चोरी, व्यभिचार, और असत्य भाषण। ये चार कर्म-क्लेश हैं। गृहस्थ को इनसे हमेशा दूर रहना चाहिये।'

'किन चार कारणो के वश होकर मूढ-जन पाप कर्म करते हैं।'[2]

'स्वेच्छाचार, द्वेष, भय और मोह के कारण अज्ञजन पाप करते हैं। आर्यश्रावक को इनमे से किसी कारण के वश होकर पाप कर्म मे प्रवृत्त नही होना चाहिए।'

४६ उन्नति के बीच

विक्रम स० २०२० की भादवा सुदी १३ को क्रान्तिकारी आचार्य भिक्षु का एक सौ साठवा चरम महोत्सव मनाया गया। अनेक वक्ताओ ने महामहिम स्वामीजी के जीवन पर प्रकाश डाला। उनकी बुद्धि की प्रखरता, निर्भीकता श्रद्धाजलिया अर्पित कर रहे थे। मैने भी अपनी ओर से श्रद्धांजलि व्रतनिष्ठा, सिद्धातवादिता आदि मे मुग्ध होकर सब भावनीनी अर्पित करते हुए तेरापथ की अभ्युन्नति और अवस्थिति के कारणो मे एक घटना का उल्लेख किया।

किसी ने स्वामी जी से पूछा—आपका यह पन्थ कब तक चलेगा ?

स्वामीजी—जब तक साधु-साध्विया अपनी मर्यादा मे रहेगे, चेला-चेली के भूखे नही बनेगे। अपने लिए कोई मकान आदि न बनवाएगे। तब तक इस पन्थ को कोई आच नही आएगी।[3]

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ५३/३

२ वही, पृ० ५३/४

३ इतिहास के बोलते पृष्ठ, पृ० १२८

प्रश्नकर्ता के सामने—आचार-निष्ठा के प्राण पर टिके हुए धर्म-सघ की कुशल-क्षेम के बारे मे अब कोई शका नही रह गई थी ।

तब मुझे सहसा तथागत बुद्ध का वह अन्तिम उपदेश याद आ गया ।

'भिक्षुओ ! जहा तक तुम लोग बराबर एकत्र होकर सघ का कार्य करते रहोगे, जब तक तुम मे ऐक्य रहेगा, ऐक्य से तुम सघ के सब कृत्य करते रहोगे, जहा तक सघ के किसी नियम का भग नही करोगे, जहा तक तुम अपने सघ के वृद्ध भिक्षुओ को मान देते रहोगे, जहा तक तुम अपनी तृष्णा की अधीनता स्वीकार न करोगे, जहा तक तुम एकान्तवास मे आनन्द मानोगे और जब तक तुम इस बात की चिन्ता रखोगे कि तुम्हारे सब साथी सुखी रहे, तब तक तुम्हारी उत्तरोत्तर उन्नति होती जाएगी, अवनति नही ।'[1]

'भिक्षुओ ! अभ्युन्नति के ये सात नियम मैं बता रहा हू, इन्हे ध्यान पूर्वक सुनो—

(१) गृहसम्बन्धी निजी काम मे आनन्द न मानना ।

(२) व्यर्थ का बकवाद करने मे आनन्द न मानना ।

(३) निद्रा मे समय बिताने मे आनन्द न मानना ।

(४) भीडभाड पसन्द करने वाले भिक्षुओ के साथ समय बिताने मे आनन्द न मानना ।

(५) दुर्वासना के वश न होना ।

(६) दुष्टो की सगति मे न पडना ।

(७) समाधि मे अल्प सफलता पाकर उसे बीच मे नही छोड देना ।[2]

निश्चित ही तेरापथ की उन्नति एव वृद्धि मे ये आदर्श बीज की भाति छिपे हुए हैं ।

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ८५/१

२. वही, पृ० ८५/२

५० कचहरी का जानवर

यह एक सुविदित तथ्य है, कानून राजनीति के हो या समाजनीति के, बलात् किसी दानव को मानव नहीं बना सकते, क्योकि—"पुस्तको मे लिखे हुए नियम मकडी के जाल के समान हैं। उसमे केवल दरिद्र और दुर्बल फसते हैं। शक्तिमान् और धनिक लोग उसे तोडकर निकल जाते हैं।"[1] मैं चाहूगा, कानून की करामात व्यक्त करने वाली एक आख्यायिका रख दू—

एक दूध बेचने वाला इस अपराध मे पकडा गया कि वह दूध मे पानी मिलाकर बेचता है। उससे सफाई मागी गई। उसने कहा—'आजकल डालडा घी खाने से लोगो की पाचन-शक्ति कमजोर हो गई है। वे मेरा शुद्ध पौष्टिक दूध पचा नही सकते। इसलिए वे पचा सकें, उतना पानी मिलाकर बेचना ही मेरा राष्ट्रीय धर्म है।' प्रशासक महोदय ने भी उसे निर्दोष घोषित कर दिया। क्योकि अपना चढावा तो वे पहले ही पा चुके थे।

ऐसे ही निर्णयो को लेकर कहा गया है—

'आदमी कचहरी जाने वाला जानवर है। कोई और जानवर कचहरी नही जाता। जाना भी नही चाहेगा। अगर गधे से पूछो—क्यो भाई! आदमी बनेगा? तो वह जवाब देगा—नही बाबा, मनुष्य को कचहरी जाना पडता है।'[2]

कइयो का विश्वास है—इस चित्रण मे अतिशयोक्ति की बू न होकर वस्तुस्थिति का दर्शन है। क्योकि आज का मानव भूल बैठा है महापुरुषो के सुखद घोष को—

'असत्य का कदापि आश्रय न ले। न्यायाधीश ने गवाही देने के लिए बुलाया हो तो वहा भी जो देखा है, उसी को कहे कि मैंने देखा है और जो बात नही देखी उसे नही देखी ही कहे।'[3]

---

१ नवनीत, जुलाई १९६३, पृ० ५९।

२ 'ज्ञानोदय', जनवरी, १९६३, पृ० १११

३ बुद्धवाणी, पृ० २४/८

'जो मुनि हैं, वह केवल सत्य को ही पकडकर और दूसरी सब वस्तुओं को छोडकर ससार-सागर के तीर पर आ जाता है। उसी सत्य-निष्ठ मुनि को हम शान्त कहते हैं।'[1]

५१ मीठा जहर

एक दिन मैंने देखा—एक जानवर कही से एक रोटी का टुकडा लेकर आया। इतने मे ही दूसरा पशु उधर से आ निकला और उसने उस टुकडे को लेना चाहा। दोनो मे छीनाझपटी शुरू हुई। उनके स्वर सुनकर दस-बीस जानवर इकट्ठे हो गए। पक्ष-विपक्ष के रूप मे बट गये। छीनाझपटी करते हुए वह टुकडा पशु के मुह से गिर गया और उसे एक कौवा ले उडा। वे परस्पर लडते-लडते लहू-लुहान हो गये। सारा शरीर क्षत-विक्षत था। उनकी मूढता पर मुझे भी तरस आया और मन मे आया—कितने पागल है! छोटे से टुकडे के लिए कितनी हानि कर बैठे। फिर भी टुकडा न मिला। यो चिन्तन आगे बढा, सोचा—ये तो निरे पशु ही हैं। परन्तु विवेकशील मानव भी ऐसी परिस्थिति मे अपने विवेक को सम्हाल ले तो सौभाग्य ही समझो। सम्राट् चेटक और कोणिक जैसे व्यक्ति भी एक तनिक-सी बात पर अपना आपा खो कर विकराल युद्ध मे जूझ पडे थे।

इतने मे ही ऐसे समय मे होने वाली स्थिति का चित्रण तथागत बुद्ध के शब्दो मे देखने को मिला।

'इन विषयो के लिए एक राजा, दूसरे राजा के साथ, क्षत्रिय क्षत्रिय के साथ, वैश्य वैश्य के साथ, माता पुत्र के साथ, पुत्र माता के साथ, बाप लडके के साथ, बहन भाई के साथ और मित्र मित्र के साथ लडता है। इन विषयो के पीछे क्या-क्या काड नही होते? गालीगलौज होता है, हाथा-पाई होती है, हथियार चल जाते हैं और लोग मारे भी जाते हैं और नही तो मरणान्तक दु ख तो भोगना ही पडता है।'[2]

---

१ बुद्धवाणी, पृ० २५/१२

२ वही, पृ० ४५/४

'इन विषयो की प्राप्ति के लिए ही लोग लडने पर आमादा हो जाते है और भीषण युद्ध-क्षेत्र मे उतर पडते है। खूब घमासान युद्ध होता है और रणक्षेत्र मे कितने ही मनुष्य अस्त्र-शस्त्रो से मारे जाते हैं। कितने ही आहत होते हैं। विषयो की इस जहरीली मिठाई के पीछे उन्हे मरणान्तक दु ख भोगना पडता है।'[1]

५२ शुभ कर्म परम दुष्कर

एक गाव की बात है। वहा के निवासियो मे कुछ कारणो को लेकर मनमुटाव था। बहुत प्रयत्न करने पर उस सारे अलगाव की अन्त्येष्टि हुई और एक सुव्यवस्थित सगठन बना। पर कुछ तत्त्व ऐसे थे, जो उस सगठन को फूटी आखों भी नही देखना चाहते थे, अत इस सगठन को येन-केन-प्रकारेण जल्दी खत्म किया जाए, इस प्रयत्न मे लगे। जब मुझे इस बात का पता लगा तब मैंने उन्हे समझाते हुए कहा—देखो 'अनुचित और अहितकर कर्मो का करना आसान है। हितकर और शुभ कर्म परम दुष्कर है।' अत अपने तनिक से अह को लेकर ऐसा काम मत करो। 'तुम्हारे जैसे व्यक्तियो के लिए उस काम का करना अच्छा नही, जिसे करके पीछे पछताना पडे और जिसका फल रोते, बिलखते भोगना पडे।'[2]

उसी काम का करना ठीक है, जिसे करके पीछे पछताना न पडे। और जिसका फल मनुष्य प्रसन्नचित्त से ग्रहण करे। तथागत बुद्ध के जीवन की एक घटना है

एक बार तथागत को अगुलीमाल डाकू मिला, जिसके हाथ मे खड्ग था। तथागत को देखते ही, वह झपटा। उसकी नृशसता का परिचय तो इतने मे ही मिल जाता था कि वह मनुष्यो को मारकर उनकी अगुलियो की माला बनाकर पहने हुए था। ऐसे क्रूर और निर्दय को समझाने वाला

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ४५/५

२ वही, पृ० ८६/१३

३ वही, पृ०८६/२

भी क्या समझाये ! पर तथागत शान्त थे और बोले 'तुम मारने के लिए आए हो, पर मेरा एक छोटा-सा काम कर सकोगे ?'

'क्या ?'

'उस सामने वाले वृक्ष से दो-चार पत्तिया तोडकर ले आओ।' अगुलीमाल गया और तपाक से दो-चार पत्तिया तोड लाया। बुद्ध ने कहा—'जाओ, इनको वापस उसी स्थान पर जोड कर आओ।'

उसने मुस्कराते हुए कहा—'नही, यह सम्भव नही है।'

'क्यो ?'

'तोडी हुई पत्ती कैसे जुड सकती है।'

'क्यो ?'

वह निरुत्तर था। बुद्ध ने कहा—'तोडना सरल होता है, जोडना मुश्किल।' उसे अपनी भूल का भान हुआ और वह पैरो में गिर पडा।

वे भाई भी यह घटना सुनकर गद्‌गद्‌द हो गये और अपनी भूल पर पछतावा करने लगे।

५३ दिल और दिमाग से

जुलाई १९६३ के नवनीत' पृ० १०८ पर एक घटना पढी—

'ईब्न सऊद के काल मे जब सर्वप्रथम टेलीफोन की लाइन अरब मे लगाई गई तब इस्लामधर्मी नेताओ ने इस आविष्कार का विरोध करते हुए इसे धर्म पर अविश्वास करने वाले अपवित्र देश की वस्तु और शैतान का कार्य बतलाया। इब्न सऊद ने उनकी शिकायत सुनी और निर्णय दिया —यदि टेलीफोन वास्तव मे शैतान का कार्य है तो कुरान के पवित्र शब्द उस पर से आरपार न जा सकेगे और यदि कुरान की पवित्र आयते उसके द्वारा सुनी जा सकती हैं तो निश्चित रूप से वह शैतान का कार्य नही हो सकता। इसलिए हम दो मुल्लाओ को नियुक्त करेंगे, जो बारी-बारी से पवित्र पुस्तको के अश पढेगे। और हम लोग देखेंगे कि यह कुरान पाठ टेलीफोन पर सुना जाता है या नही।'

इस प्रकार के परीक्षण से उन धर्म नेताओ का समाधान हुआ।

मेरे मन मे आया, आई हुई उलझन को सुलझाना और बात है और सत्य तत्त्व को प्राप्त करना और बात है। भावुकतावश हृदय जिस बात को स्वीकार कर ले, वह सदा ठीक ही नही होती। हृदय और मस्तिष्क दोनो जिस बात को विवेक पूर्वक स्वीकार करते हो, उसे ठीक मानना सत्य के बहुत निकट पहुचना है। भ० महावीर ने भी कहा—'तत्त्व को बुद्धि से परखो।'[1] तथागत बुद्ध ने भी कहा— 'भिक्षुओ ! मै जो कुछ कहू, वह परम्परागत है, इसलिए सच मत मानना लौकिक-न्याय है ऐसा मानकर सच मत मानना, सुन्दर लगता है, 'ऐसा समझ कर सच मत मानना, तुम्हारी श्रद्धा का पोषक है, इसलिए सच मत मानना। मैं शास्ता हू, पूज्य हू, ऐसा मानकर सच मत मानना, ऐसा ही होगा ऐसा मानकर सच मत मानना, किन्तु तुम्हारा हृदय और मस्तिष्क जिस बात को विवेक पूर्वक ग्रहण करता हो, उसे ही सत्य मानना।'[2]

५४ अच्छे फसे !

भगवान् महावीर ने कहा—'लोभ सर्वनाश करने वाला है ? लोभी आशा के जाल मे फसकर किस तरह अकल्पित कष्टो को न्यौता देता है, इसका एक चित्र देखिये—

'किसी सेठ की दुकान पर एक पगडीधारी सज्जन पधारे। हाथ जोड निवेदन किया—'मैं गोपालपुर से आया हू। सुना है, आपके चिरजीव विवाह योग्य है।'

'जी हा, जी हा अरे भाई, रामसहाय ! शर्बत लाना।' सेठजी ने पगडीधारी सज्जन को आसन दिया। शर्बत-पान के साथ वार्तालाप चला। सेठजी बोले, 'देने-लेने की बात भी लगे हाथ तय हो जाती !'

जरूर-जरूर, आपके जैसे घर मे लडकी देनी है तो दहेज का प्रबन्ध भी आपकी हैसियत देखकर ही करूगा। आखिर लडकी भी तो राज

१ उत्तराध्ययन, २३/२५
२ बुद्धवाणी, पृ० १०६/१४५

करेगी।'

'हें हें, आपकी कृपा है। वैसे धन्धा मन्दा है, फिर भी इस दुकान से साढे चार-पाच हजार की आमदनी हो ही जाती है। बाकी छहेक हजार ट्रको से और तीन-चार हजार हर महीने शेयरो से मिल जाता है।'

'तो यह लीजिये मेरा कार्ड, मैं इन्कमटैक्स अफसर हू।'[1] सेठ की सिटीपिटी गुम! कहे भी तो क्या!! मेरे मन मे आया तथागत बुद्ध का यह वाक्य।

'यदि थोडा सुख छोड देने से विपुल सुख मिलता हो! तो बुद्धिमान् पुरुष विपुल सुख का खयाल करके उस थोडे से सुख को छोड दे।'[2] अगर सेठजी इन उपदेशो पर अमल करते तो सभवत इस चक्कर मे नही फसते।

५५ दाल की कलछी

एक बार किसी नगर मे मै भिक्षा के लिए एक घर मे गया। रोटी, शाक, दाल, भात आदि सामग्री मे से आवश्यकतानुसार लेकर लौटा। जब स्थान पर आकर आचार्यश्री के पास पहुचा, तो आचार्यश्री मुस्कराते हुए बोले—'तुम दाल बिना नमक की क्यो लाये?' मै चकित रह गया। मुझे भी पता नही था कि दाल कैसी है, आचार्यश्री को कैसे पता लगा? अन्त मे सारा भेद खुला। जिस भाई ने दाल बहराई थी, जब वह भोजन करने बैठा, तो पता लगा दाल फीकी है। सोचा—महाराज भी ले गये हैं, वे क्या करेंगे? जिस मकान मे हम ठहरे थे, उसके मकान मालिक के यहा उसने फोन कर दिया कि—तुम महाराज साहब को नमक की प्रार्थना करना। उस भाई ने मेरे आने से पूर्व ही आचार्यश्री से प्रार्थना कर दी थी, अत आचार्यश्री ने पूछ लिया था।

मेरे मन मे आया, इतनी देर तक दाल उस बर्तन मे थी, कलछी से मुझे दी भी थी, पर किसी को यह पता नही लगा कि दाल फीकी है।

---

१ दशवैकालिक, ८/३८

२ बुद्धवाणी, ६४/४८

जीभ ने चट से बता दिया ? इस प्रसग मे तथागत बुद्ध के दो वाक्य मुझे याद आ गये और दाल के माध्यम से ज्ञानी तथा अज्ञानी का भेद सामने आ गया —

'जिस प्रकार कलछी दाल-तरकारी के स्वाद को नही समझ सकती, उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य सारी जिन्दगी पडितो की सेवा मे रहकर भी धर्म और ज्ञान का रस प्राप्त नही कर सकता।'[1]

जिस प्रकार जीभ दाल-तरकारी को चखते ही स्वाद पहचान लेती है, उसी प्रकार विज्ञपुरुष पडितो की सेवा मे मुहूर्त मात्र रहकर भी धर्म और ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।'[2]

५६ अधजल गगरी

'अल्पविद्यो महागर्वी' की उक्ति प्राय असत्य नही निकलती। सस्कृत का थोडा-सा ज्ञान पाने वाला यह समझ बैठता है कि उसने समूचे वाड्मय को ही आत्मायत्त कर लिया है। किन्तु सच्चे विद्वान् के सामने उसका यह मान चूर-चूर होते देर नही लगती।

एक नौसिखिया वैयाकरण श्री कालुगणी के पास आकर अपनी शेखी बघारने लगा—मैने पाणिनीय का अध्ययन किया है, वह सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है।

कालुगणी—हा, ठीक है, व्याकरण सुन्दर है।

'एक भी ऐसा शब्द नही, जो पाणिनीय से सिद्ध हो नही सकता हो' —वह अपने अभिमान पर फूल रहा था।

'पडित जी! तुच्छ शब्द किस सूत्र से सिद्ध होता है?' कालुगणी ने पूछा।

पडित ने सूत्रो को खूब उलट-पुलटकर याद किया, पर रेवडी का नाम गुलगप्पा! और तभी कालुगणी की शिक्षा मुखर हो उठी—'विद्या का

१ बुद्धवाणी, पृ० ६६/६६

२ वही, पृ० ६६/६७

अभिमान कैसा ? सम्पूर्ण ज्ञान किसको हो सकता है ?'

आज भी जब किसी अज्ञ व्यक्ति को अपने ज्ञान पर इठलाते देखता हू, तब सहसा इस घटना के साथ-साथ तथागत बुद्ध का वह अमर सदेश भी याद आ जाता है—

'जो छिछला या छिछोरा होता है, वही ज्यादा आवाज करता है, पर जो गभीर होता है, वह शान्त रहता है। मूर्ख अधभरे घड़े की तरह शोर मचाते हैं, पर प्रज्ञावान् गभीर मनुष्य सरोवर की भाति सदा शात रहते है।'[1]

५७ पंडित कौन ?

जहा विद्वत्ता होती है, वहा सागर-सी गम्भीरता भी होती है, वहा सोने की नाई ध्वनि कम होती है।

पडिताई के नशे मे चूर एक विद्वान् श्री कालुगणी के निकट आए। बात चल रही थी कि प्रसगवश मुनिश्री सोहनलाल जी ने एक जिज्ञासा की— माघ के इस श्लोक मे **'व्यथा द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्** मे **'द्वयेषा'** का प्रयोग कैसे हुआ ? और उसकी व्याकरण की दृष्टि से सगति कैसे बैठ सकती है ?

पडित ने उसे अपनी विद्वत्ता की परीक्षा के रूप मे समझा, तुरन्त उसका वाग्वैदग्ध्य चोट खाए साप की तरह फुकार उठा। धारा-प्रवाह सस्कृत मे बोलते ही गया। रुकते नही देखकर श्रीकालुगणी ने बीच मे ही रोका—पडित जी ! मैं बहुत बोलने वाले को पडित नही मानता और न ही कम बोलने वाले को मूर्ख।

सुनते ही पडित जी का चेहरा फक् हो गया। उस समय वे चले गए, किन्तु उनके मन की हलचल ने रातभर शान्ति से नही सोने दिया। दुपहर मे दर्शन किए और २१ श्लोक बनाकर लाये। जिनमे एक श्लोक यह भी था—

१ बुद्ध वाणी, पृ० ६६/६२

'सायतने गतदिने भवदीयशिष्यै.,
साकं विवाद-विषयेऽत्र यते ! प्रवृत्ते ।
यद् किंचिदल्पमपि जल्पितमस्तुकोष्ण,
क्षन्तव्यमेव भवतां करुणापरेण'

अर्थात् कल शाम को आपके शिष्यों के साथ जो गर्मागर्म विवाद हुआ, उसके विषय मे क्षमा चाहता हू, कृपा करके क्षमा करे।

आज भी जब आचार्यश्री की वह वाणी कान मे गूजती है, तब सहसा मुझे बुद्ध का वह वाक्य याद आ जाता है—

'बहुत बोलने से कोई पडित नही होता। जो क्षमाशील वैर-रहित और अभय होता है, वही पडित कहा जाता है।'[1]

'भिक्षुओ ! कम बोलो, जितना ज्यादा तुम बोलोगे उतना ही तुम्हारा मान घटेगा और छिछलापन जाहिर होगा। कम बोलो, लेकिन ठोस बाते बोलो, मर्यादित होकर बोलो और विश्वास के साथ बोलो। ये ही बाते तुम्हारा महत्त्व बढायेगी।'[2]

५८ कफन भी तैयार है

कहा गया है '**अन्न वै प्राणा**'[3] अन्न प्राण है। फिर भी तत्त्व-द्रष्टाओ ने खाने के तीन कारण बतलाए—

(१) स्वाद के लिए खाना,
(२) जीने के लिए खाना,
(३) सयम निर्वाह के लिए खाना।

स्वाद के लिए खाना अज्ञान है, जीने के लिए खाना आवश्यक है, सयम के लिए खाना साधना है, तपस्या है। साधना और तपस्या के पथ पर कोई अग्रसर न भी हो सके, पर स्वाद के चक्कर मे पडकर भक्ष्य-

---

१ बुद्धवाणी पृ० २/३६
२ वशातर जातक, १/१७/११८
३ ऐतरेय ब्राह्मण, ३३/१

अभक्ष्य का भान भूल जाना तो किसी भी प्राणी के लिए उचित नही है। देखा जाता है दुर्व्यसनो के दास सदा हानि ही उठाते है —

'एक अल्हड प्रकृति का धनिक मेठ था, मदिरापान के दुर्व्यसन से ग्रस्त ! वह चाहता था—कोई ऐसा एक सु-सेवक मिले जो तनिक से इशारे मे आगे-पीछे की सारी बातो को ताड ले।

एक बार एक नौकर आया। सेठ ने कहा—'वेतन पूरा दिया जा सकता है। पर एक कार्य के लिए मुझे बार-बार न कहना पडे, यह याद रखना। आज तक जितने भी व्यक्ति मिले है, सारे बेवकूफ ही निकले।' एक-एक वस्तु लाने के लिए हजारो चक्कर लगाने पर भी कार्य मेरी रुचि का नही बन पाता है।'

नवागन्तुक बात समझ गया और वही रहने लगा। उसने मन मे दृढ निश्चय कर लिया कि सेठ को दुर्व्यसन से किसी तरह बचाना चाहिए। एक दिन सेठ ने शराब की बोतल मगाई। नौकर बोतल लेकर आया और बरामदे मे बैठे मेठ के सामने वाली मेज पर रख दी। साथ ही बर्तन मे मास, दवा का वडल, डाक्टर और कफन की सामग्री भी। सेठ हैरान थे, पूछा—यह मब क्या है?

नौकर ने उत्तर दिया—आप ही ने तो कहा था—सारी सामग्री एक साथ ही आ जानी चाहिए। अत· सारी सामग्री साथ ही ले आया हू। देखिये—मद्य के साथ मास भी चाहिए सो यह तैयार है। इससे रोग होगा ही, अत डाक्टर भी तैयार है और दवा भी ! फिर इस दुर्व्यसन से मरना भी जल्दी पडता है, अत जलाने के लिए कफन व लकडिया भी तैयार हैं। शव-यात्रा के लिए लोगो को न्यौता भी दे आया हू।'

मेठ जी चुप थे, मन ही मन शर्मिन्दा !

मै जब सेवक की चतुरता और उक्ति की गहराई मे उतरने लगा तो तथागत बुद्ध का यह वाक्य याद आ गया।

'मद्यपान के व्यसन से सम्पत्ति का नाश होता है, इसमे तो सन्देह ही नही। फिर मद्यपान से कलह बढता है और वह रोगो का घर तो है ही। इससे अपकीर्ति भी पैदा होती है। यह व्यसन लज्जा को नष्ट और बुद्धि को भ्रष्ट कर देता है। मद्यपान के छह दुष्परिणाम हैं।'

५६ धर्म नहीं खोया

आज के बुद्धिवादीवर्ग की धर्म के प्रति उदासीनता के कारणो की चर्चा आये दिन सुनने मे आती है। मेरे ध्यान से इसके दो कारण है—

(१) धर्म-क्षेत्र मे भक्तो की ध्रुव और प्रह्लाद की-सी प्रवृत्ति व सूर और मीरा-सी तल्लीनता तथा कर्म-क्षेत्र मे हिरण्यकश्यप-सी वृत्ति और शूर्पणखा का-सा छलभरा बर्ताव।

(२) धर्म के सही रूप की अनभिज्ञता, व सब कुछ बुराई करके भी यह नही समझते कि हमने कुछ भी बुरा किया है, जैसा कि वह हब्शी महाशय समझता था।

'एक बार आत्मिकशुद्धि के निमित्त आयोजित एक धार्मिक सभा मे एक हब्शी ने अपने अपराधो को स्वीकार करते हुए कहा—'भाइयो, मुझे जैसा होना चाहिए था, वैसा मै नही रहा, मैने चोरी की, झूठ बोला, गालिया दी, लडाई झगडा किया। किन्तु एक बात मैंने कभी नही की— अपना धर्म कभी नही खोया।'[1]

भक्त लोग उस हब्शी की तरह मान बैठे हैं। 'अपना धर्म कभी नही खोया' पूछने वाला यदि उमसे पूछे—गालिया भी दी, चोरिया भी की, लडाई-झगडा भी किया, झूठ भी बोले फिर आपने रखा क्या? क्या मच पर बैठकर लम्बे-चौडे भाषण देना ही धार्मिकता है? याद है तथागत बुद्ध की यह वाणी—

'वह धर्मधर नही, जो बहुत बोलता है। वही धर्मधर है और वही धर्म विषयो मे अप्रमादी है, जिसने चाहे थोडा ही धर्म सुना हो, पर जो धर्म का ठीक-ठीक आचरण करता है।'[2]

---

१ कादम्बिनी, मार्च १९६३, पृ० ५५

२ बुद्धवाणी, ९२/३७

६० श्रीमती अफवाह

एक जैन कवि ने नेमिनाथ महाकाव्य मे कहा—

गंगासिन्धुनदी योगात्, षट्खण्ड यदजायत।
प्रापयन् प्रसराञ्चिस्तु, को वा स्त्रिभिर्न खण्डित ।

गगा और सिन्धु नदी के योग से भारतवर्ष के छ खण्ड हो गये। इसमे क्या आश्चर्य ? क्योकि जिस स्थान मे महिलाओ का दबदबा हो वहा टूक-टूक होते ही है। (गगा और सिन्धु शब्द स्त्रीलिंग होने से स्त्री वाचक हैं।)

पद्य पढते ही दिल मे एक हल्की-सी टीस उठी। आज के जमाने मे यह कटु और करारे व्यग्य ? पर जब ये पक्तिया पढी तो वह कसक कुछ धुल गई —

एक बडे सम्राट ने अपने दरबार मे गर्व पूर्वक दावा किया कि कोई शक्ति उसके विशाल राज्य को नष्ट नही कर सकती। लेकिन उसके प्रधानमन्त्री ने कहा—'महाराज ! मैं एक ऐसी महिला को जानता हू, जो आपसे भी बडे साम्राज्य को आसानी से ध्वस कर सकती है और इस तरह कि उसके ध्वसावशेष भी न दिखायी दे। उसको प्रश्रय देते ही आपका यह साम्राज्य भी पतन के गड्ढे मे जा सकता है।'

सम्राट ने रुष्ट होकर पूछा—'कौन है वह महिला ?' प्रधानमन्त्री ने शातिपूर्वक उत्तर दिया—'इस महिला का नाम 'अफवाह' है, महाराज !'[१]

वस्तुत अफवाह नाम की महिला है बडी भयानक। निराधार, सदिग्ध, विपरीत एव आरोपपूर्ण वचन कहकर किसी असत्य को फैला देना अफवाह है। ज्ञानियो का कहना है—'अफवाह फैलाने वाले बहुत ही सचिक्कण कर्मों का बन्ध करते हैं।' तथागत बुद्ध ने कहा—

'लाभ का हितकर उपाय पूछने पर जो हानिकारक उपाय सुझाता है, अथवा सदिग्ध वचन बोलता है, उसे चाण्डाल समझना चाहिए।'[२]

---

१ कादम्बिनी अप्रैल १९६३, पृ० २५

२ बुद्धवाणी पृ० ६६/८

६१ दान मीमांसा

भारतीय मानस मे दान के प्रति सदा से आकर्षण रहा है। धर्मगुरुओं ने समय-समय पर श्रद्धालुजनो को दान का माहात्म्य समझाया और यह भी समझाया कि दान भी देश, काल और पात्र के भेद से राजसिक, तामसिक और सात्विक---तीन प्रकार का है। दाता के लिए पात्रदान और अपात्रदान का विवेक भी अपेक्षणीय है। सन्त विनोबा ने यहा तक कहा---

'दुनिया मे बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मागने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। जो ईश्वर भक्ति के रग मे रगा हुआ है, ऐसे सन्यासी को ही यह अधिकार है, क्योकि ऊपर से देखने मे भले ही ऐसा मालुम पडता हो कि वह कुछ नही करता, पर अनेक दूसरी बातो से वह समाज की सेवा किया करता है। ऐसे सन्यासी को छोडकर किसी को अकर्मण्य रहने का अधिकार नही है।"[1]

फिर भी आश्चर्य है, इस चिन्तन-प्रधान युग मे भी दान के लिए ऐसे-ऐसे उदाहरण सामने आते हैं, जिन्हे सुनने और देखने वाले को बुराइयो के प्रति दया आती है।

'एक दिन एक सैलानी स्त्री और एक पुरुष मसूरी से लौटते समय हरिद्वार मे हर की पौडी पर पहुचे। गरमी के दिन थे। गगा का शीतल जल देखकर दोनो का मन ललचाया। दोनो जी भर नहाए। नहा-धोकर जब वे चलने को तैयार हुए तो हरिद्वार के चतुर पडे ने दोनो का रास्ता रोकते हुए कहा---'यह तीर्थस्थान है। गगा का पवित्र तट हैं। यहा पर सच्चे मन से जो ब्राह्मण को दान देगा, वह अनन्त समृद्धि बनकर फले-फूलेगा।'

दोनो को उसकी बात समझ मे आई। दोनो ने मुस्कराकर चार रुपये उस पडे के हाथ पर रख दिये।

पडा बहुत कुशल था। उसने तत्काल दोनो के हाथ पर दो-दो फूल और एक-एक चूलू गगाजल डालकर कहा---'विधि-विधान से दान लूगा,

---

१ विनोबा के विचार, पृ० ४६

अब मै शास्त्रोक्त सकल्प बोलता हू । तुम दोनो सच्चे मन से ध्यान करो।

दोनो धार्मिक श्रद्धा से नीचे गगा तट पर बैठ गये । पडे ने दोनो के दान का सम्मिलित शास्त्रोक्त सकल्प पढा—"ॐ अद्य तत्सत् कलियुगे कलिप्रथमचरणे भारतदेशान्तर्गत उत्तराखडे हरिद्वारे गगातटे पवित्र गगाजलस्नानोत्तर अमुक नाम पति-पत्नी द्वारा प्रदत्तानि चत्वारि रूप्यकाणि

दोनो शिक्षित थे। दोनो ही ने शिक्षाकाल मे सस्कृत भाषा पढी थी। दोनो ने एक साथ बीच ही मे पडे को रोककर कहा—'महाराज, हम दोनो आपस मे पति पत्नी नही है।'

उसके बोलते ही चतुर पडे ने अपनी सतुलित दृष्टि से दोनो को एक बार ध्यान से देखकर तत्काल अपने सकल्प पाठ मे परिवर्तन कर कहा—क्षमा करना, मैंने ध्यान से नही देखा था।" और सकल्प पुन ठीक कर पढा "भ्रातृ-भगिनी द्वारा प्रदत्तानि' ।

यह सकल्प पाठ सुनकर दोनो को जैसे बिच्छू ने काट खाया, दोनो तडपकर बोले, 'क्या गलत-सलत सकल्प पढ रहे हो पडितजी, हम दोनो आपस मे भाई बहन नही, कालेज फ्रैन्डस् हैं।'

पडा अग्रेजी पढा हुआ नही था। फ्रैण्ड का अर्थ नही समझ सका। गगा किनारे उसके और बहुत से यजमान भी खडे हुए थे। जल्दी मे अपना काम निपटाने के लिए उसने दूसरी बार अपना सकल्प परिवर्तित कर, इस प्रकार पढा—"फ्रैन्ड-फ्रैन्डनी द्वारा प्रदत्तानि चत्वारि रूप्यकाणि, फ्रैन्ड फ्रैन्डनी जीवने अनन्त सुख समृद्धिकारण भवन्तु।"

देखा, पडित जी का अगाध ज्ञान। ऐसे पण्डित मुनियो की योग्यता पर मुझे तथागत बुद्ध का एक वाक्य याद आ रहा है—

'दान, प्रियवचन, अर्थचर्या और समानात्मकता अर्थात् दूसरो को अपने समान समझना, ये लोक-सग्रह के चार साधन हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन चारो साधनो का उपयोग (सदुपयोग) करके जगत् मे उच्चपद प्राप्त करता है।'[1]

---

१ बुद्धवाणी पृ० ५८/१६

६२ मृगतृष्णा

तथागत बुद्ध ने कहा—'प्रमादरत मनुष्य की तृष्णा लता की भाति बढती ही जाती है। वह एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक इस तरह से दौडती रहती है, जैसे वन मे बन्दर एक फल के बाद दूसरे फल की इच्छा करता है।"[1]

यह लालची मानव के मानस का पूरा-पूरा खाका है। लालची मानव को बन्दर की तरह ही दूसरे वृक्ष वाला फल अच्छा लगता है। कहा गय है '**भृशायते परस्य भाजने गत नृणा हविः** ।' अर्थात् दूसरो की थाली मे घी ज्यादा ही दीखा करता है। एक जगह मैंने लिखा है—

कब आता है मनुज को, स्व-स्थिति में सन्तोष।
कहता ही रहता सदा, कुछ न कुछ तो दोष ॥

पर अन्त मे इस मृगतृष्णा की चकमक मे फसने वालो की दशा का नग्न चित्र इस लोक-कथा मे देखिए—

'गधा एक दिन विधाता के पास पहुचा। बोला—महाराज ! लादी ढोते-ढोते थक गया हू। कोई दूसरा काम दीजिए।

ब्रह्मा ने निजी सचिव से कहा—'इसे वकील बना दो।'

घर से कचहरी, कचहरी से घर। गधे को वैसे ही लगा जैसे घर से घाट, घाट से घर। गधे ने ब्रह्मा के दरवाजे फिर गुहार लगायी—'अच्छा, इसे पत्रकार बना दो।'

गधे को पत्रकार का पेशा भी नही पसन्द आया, तो पुन. ब्रह्मा के पास गया।

ब्रह्मा ने ऊबकर कहा—'जाओ इसे क्लर्क बना दो।'

दफ्तर से घर, घर से दफ्तर। फाइल ढोते-ढोते गधे की कमर टूट गयी। उसे अपनी पुरानी लादी की याद हो आई। गधा ब्रह्मा के पैर पकड रोने लगा। ब्रह्मा द्रवित हो गये। बोले—'अच्छा, इसे अध्यापक बना दो।'

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ३१/१

लडको को पढाना भी आसान काम नही, लडको ने नाक मे दम कर दिया तो गधा भागकर फिर ब्रह्मा के पास आया। गधे की सूरत देखते ही ब्रह्मा बिगड खडे हुए। वह चरणो पर लोट गया। ब्रह्मा का क्रोध शान्त हुआ तो सचिव से बोले—'जाओ, इसे छात्र बना दो।'

गधा खचिया भर किताबो का बोझा स्कूल से घर, घर से स्कूल तक ढोता रहा। इम्तहान मे बैठा तो फेल हो गया। निराश होकर फिर ब्रह्मा के पास आया। गधे को देखते ही विधाता को गुस्सा आ गया।

सचिव से बोले—

'इसे फिर से गधा बना दो।'

आदेश देकर ब्रह्मा न कान मे तेल डाल लिया। चित्रगुप्त ने कपाट बन्द कर लिये।

गधा बहुत देर तक विधाता के दरवाजे के बाहर चिल्लाता रहा।'

६३ आदर्शों की छाया में

एक अगरक्षक ने डरते-डरते मिनिस्टर से पूछा—'स्वामिन्! आप लोग हर समय प्राण-भय से ग्रस्त क्यो रहा करते हैं? सुना है, देशभक्त तो अपने प्राणो को हथेली मे लिये घूमा करते है।'

'अरे जान पडता है तू बहरा है, कुछ भी सुन नही सकता है।' मिनिस्टर महोदय ने कहा—'हमने अनेक बार तो अपने भाषण मे घोषणा की है, हमारा सर्वस्व हमारा नही, जनता का है, तन, मन, धन, प्राण सभी कुछ! फिर जब प्राण दूसरो की धरोहर है, तो उसकी यत्नपूर्वक रक्षा करना क्या सबसे बडा मानवीय धर्म नही है?'

मैंने जब श्रीमान् की यह नीतिपरायणता और महाराज जनक-सा वैदेही भाव सुना तब ऐसा लगा, **'आदर्शों की छाया मे पापो की दुनिया पलती है'** जब और गहरा उतरने लगा तो तथागत बुद्ध के दो वाक्य स्मृति मे गूज उठे—

'रग या रूप से मनुष्य सुज्ञेय नही होता । किसी को देखते ही उस पर विश्वास नही कर लेना चाहिए । रूप और रग से कितने ही मनुष्य सयमी-से मालूम होते हैं ।'[१]

'ऐसे बने हुए मनुष्य मिट्टी के नकली कुडल की तरह या सोने से मढे हुए तावे के टुकडे की तरह होते हैं । ऊपर से सुन्दर, किन्तु भीतर से अत्यन्त अशुद्ध होते हैं ।'[२]

६४ घटे ने कहा

एक विशाल मन्दिर मे मैने देखा, वहा प्रतिदिन भक्तो के झुण्ड के झुण्ड आते थे । बद्धाजलि, झुके-झुके आना, घण्टा बजाना, भगवान् के सामने झुककर साष्टाग प्रणाम करना—यह प्रतिदिन का कार्यक्रम था । भक्त तो झुककर उठता, चल देता परन्तु उस घटे की झनझनाहट कुछ समय तक वैसी ही बनी रहती । भावो के आलोक मे मुझे ऐसा लगा—मानो घण्टा हिल-हिलकर कह रहा है, 'भोले भक्त ! तुम्हारा मन साफ होता तो बार-बार माथा घिसने की आवश्यकता नही होती । तुम्हे भगवान् के द्वार खट-खटाकर और मुझे हिला-हिलाकर भगवान् को जगाना नही पडता, अपितु भगवान् स्वय तुम्हारे द्वार पर उपस्थित हो जाता । अच्छा है साफ मन से आकर झुको ! घण्टे की ध्वनि से जब यह अन्तर्ध्वनि आ रही थी तब बुद्ध की सूक्तिया याद आ गई—

'जब आदमी मलिन मन से बोलता व कार्य करता है, तब दुःख उसके पीछे वैसे ही हो लेता है, जैसे गाडी के पहिये बैल के पैरो के पीछे-पीछे ।'[३]

'जब आदमी स्वच्छ मन से बोलता व कार्य करता है, तब सुख उसके

---

१ बुद्धवाणी, पृ० १०३/१२२

२ वही, पृ० १०३/१२३

३ धम्मपद, १/१

पीछे वैसे ही हो लेता है, जैसे कभी साथ नहीं छोडने वाली छाया आदमी के पीछे-पीछे।"[१]

६५ भ्रान्ति की शान्ति

मै एक महानगर मे गया। वहा श्रावको मे परस्पर कुछ मनमुटाव था। श्रमण सस्कृति मे शिक्षित-दीक्षित होने के नाते, 'समता मे ही धर्म है' तथा 'समत्व ही योग है' आदि सूक्तियो को जीवन मे अनुस्यूत करने की लगन ने उस मनमुटाव को मिटाने की मूक प्रेरणा दी। दोनो ही दलो के सम्बन्धित व्यक्तियो से बातचीत का दौर शुरू हुआ। कुछ सात्त्विक प्रयत्नो के द्वारा मन-मुटाव की समाप्ति हो गई। यद्यपि मन-मुटाव दूर करने मे तटस्थता का निर्वाह पूर्णत हो, ऐसी सजगता रखी गई थी, फिर भी एक व्यक्ति को यह भ्रान्ति हो गई कि मुनिश्री ने तो अमुक दल का पक्ष लिया है। फलत उनके दिल मे कुछ विद्वेष की भावना भभकी पर व्यक्तिगत नैकट्य होने के नाते, विद्वेष की आग मन-ही-मन सुलगती रही, होठो से बाहर न निकल सकी। धीरे-धीरे जब मेरे बर्ताव व व्यवहार से उसकी वह भ्रान्ति स्वत समाप्त हुई तो एक दिन मेरे पास आया और नम्रता के साथ अपनी बात कही, बताया कि उसने क्या-क्या विरोध करने का सोच रखा था। अच्छा हुआ कि गलतफहमी दूर हो गई।

तब मुझे तथागत के इन वाक्यो की यथार्थता प्रतीत हुई। 'जो शुद्ध, पवित्र और निर्दोष पुरुष को दोष लगाता है, उस मूर्ख को उसका पाप लौटकर लगता है जैसे वायु के रुख मे फेकी हुई धूल अपने ऊपर सहज ही आ पडती है।'[२] मेरी सात्त्विक सान्त्वना से गद्गद होकर उसने क्षमा-याचना की।

---

१ धम्मपद, १/२

२ बुद्धवाणी, पृ० ८९/११

६६ कथनी करनी

कभी-कभी 'सौ सयाने एक मत' हुआ करते है। महापुरुषो के लक्षण बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'आप्त पुरुषो की वाणी और व्यवहार मे एकरूपता होती है।'[१] वहा वैदिक परम्परा मे भी यही घोष प्रतिध्वनित हुआ '**चित्ते वाचि क्रियाया च महतामेकरूपता**'[२] मन वचन और कर्म मे महापुरुषो के एकरूपता होती है। बौद्ध साहित्य मे भी इसी सत्य के दर्शन होते है—'वाणी और व्यवहार मे एकरूपता रखने वाला ही बुद्ध का श्रावक है'[३] आश्चर्य तब होता है जब महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण के देशवासियो के भी कथनी और करनी मे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुव का-सा अन्तर नजर आता है। उसी विरोध-भाव को मिटाने के लिए समय-समय पर बोध दिया जाता रहा है। अपेक्षा की जाती है, मानव अपनी भूल को सुधारे।

कहते है पिजरे से मुक्त हुई एक सारिका गदराई हुई आम्रशिखा पर बैठी गा रही थी, '**सर्वे भवन्तु सुखिन , सर्वे सन्तु निरामया** '

दूर डाल पर बैठी एक वन-विहगिनी सुनकर पूछ उठी, 'आलि ! यह कहा से सीखा है तुमने ?'

'सखी ! मानव के सम्पर्क मे आकर।' सारिका ने उत्तर दिया।

'तब तो मानव हम सबसे ऊचा होगा ? हम तो अपने सुख के लिए अपने नन्हे शिशुओ के सुख-साधनो को झपट लेती है। क्यो सजनी ! मानव तो समष्टि के लिए अपने सुख को बिखेर देता होगा ? वह तो बहुत महान् होगा ?'

'हा सजनी' एक नि श्वास भरकर सारिका बोली—'तभी तो वह हमे बन्दो बनाकर हमारी फुदकन और चहकन का सुख लूटता है।'

'और फिर भी वह 'सर्वे भवन्तु सुखिन ' का उद्घोष करता है' ?

१ स्थानाग, ७

२ पचतन्त्र

३ थेरगाथा, १२८०

'हा सखी ! तभी तो वह दु खी इसान है, वर्ना भगवान् नही बन जाता !'

इस बात पर मुझे तथागत बुद्ध की यह सूक्ति याद आ गई 'जो मुह फाड-फाडकर लम्बे-चौडे उपदेश तो करता है, पर स्वय क्या कर रहा है उसका उसे पता नही है, वह पडित होते हुए भी मूर्ख ही है ।'[1]

६७ पगरखी की प्रतिष्ठा

सेवा स्वय अपने आप मे एक महनीय कार्य है । सेवक के दिल मे सेव्य के प्रति अर्पण-बुद्धि रहे इस कर्त्तव्य बोध के लिए कहा गया है—'वह निष्काम भावना रखे ।' सेवा करने वाले के दिल मे बडप्पन की भूख जागती है, तब उसे सेवा का मर्म कैसे समझाया जाता है, देखिये—

'एक दिन पगरखी पगडी को शीर्षस्थ देखकर कुछ खिन्न-सी हो गई । वह देह भगवान् के पास आकर अपने हृदय का दु ख बाहर निकालती हुई कहने लगी—'मालिक ! मैं आपके चरण कमलो को सर्दी-गर्मी से बचाती हू, कण्टक व ककरो मे रक्षा करती हू, बिच्छू-सर्प आदि जहरीले जानवरो से प्राण-रक्षा करती हू । लम्बे-लम्बे रेतीले व पथरीले पथ पार करने मे सहायक बनती हू । फिर भी मुझे घृणा की दृष्टि से क्यो देखा जाता है ? देव मन्दिरो मे तो मेरा प्रवेश ही निषिद्ध है, धर्म-गुरुओ के सामने मुझे ले जाना पाप है । मुझे सभ्य गृहो के तो बाहर ही रहना पडता है । अफसोस ! इस ससार मे सेवा का सही मूल्याकन भी नही है । पगडी को जो, शीत-तापादिक से बचाती हुई सामान्य अमीराना-सी सेवा करती है, सिर पर स्थान मिला है । सिर से उतारकर उसे बडी अदब से खूटी पर रखा जाता है । वह अपने रोबो-रबाब मे फूली नही समाती । उसके पेट मे टेढे-मेढे पेच हैं, तो भी वह सम्माननीय है ।'

पगरखी की दर्द भरी कहानी सुनकर देह भगवान् ने कहा—'सेवा भावी उच्च स्थान व सम्मान की इच्छा नही रखता, अपमान की परवाह

---

१ उदान, ५/६

नही करता और किसी के दुर्गुण नही देखता। सेवा का अभिमान स मेल नही खाता। वहा तो उपास्य के प्रति दास्य भाव ही स्वीकार्य होता है। तू चरण-कमल की सेविका है, यदि सिर पर चढना चाहेगी तो तेरा और मेरा (मालिक) दोनो का अपमान होगा। देखती नही, समय स्वय सेवा का मूल्याकन करता जा रहा है। जिनके पेट मे पेंच है, आटे है—वे पगडिया शनै-शनै उठती जा रही हैं। लोग नगे सिर रहना पसद करने लगे है। लेकिन तेरी प्रतिष्ठा बढी है। आज के पढे-लिखे लोग प्रतिदिन प्रात तेरी पूजा (पालिश) करते है। गृह-प्रवेश की घृणा खत्म हो चुकी। अब तो बडे कुलीन व्यापारी भी तुम्हारा व्यवसाय करने लगे हैं। धैर्य रखो, सेवा कभी निष्फल नही जाती।"[1]

मैने जब देह भगवान् का निर्णय सुना तो जीवन मे सेवा की प्रेरणा लेने वाला तथागत बुद्ध का एक वाक्य याद आ गया—'तू तो निष्काम (कर्म) का चिन्तन कर और अहकारी वासना छोड दे। अहकार का त्याग करने पर ही तुझे सुचिर शान्ति मिलेगी।'[2]

और साथ ही पगरखी की सेवा भावना को बल देने वाली यह सूक्ति भी स्मृति-पटल पर अकित हो गई—'जो अपने परिचितो तथा मित्रो के साथ उचित व्यवहार एव उनके सेवा-शुश्रूषा मे दिलचस्पी नही रखता वह आकृति से मनुष्य होते हुए भी वृक्ष की शाखा पर रहने वाले बन्दर के समान है।'[3]

६८ राग से राग

तेरापथ की दान-दया की निरूपण-पद्धति आगमसम्मत, युगानुकूल, तर्क पुरस्सर होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुग्राह्य और सुबोध्य हो, ऐसा नही है। बडे-बडे मनीषी भी इसकी गहराई मे पहुचते-पहुचते लटखडा

१ अन्तर्ध्वनि, पृ० २१

२ बुद्धवाणी, पृ० ६६/८८

३ जातक, १८/५२८/१३३

जाते हैं।

एक बार मेरे पास एक प्राध्यापक आये, जो अच्छे दार्शनिक, जिज्ञासु और अपने क्षेत्र के एक प्रसिद्ध व्यक्ति थे। तेरापथ समाज के प्रति श्रद्धाशील थे, पर प्रत्येक तत्त्व को आख मूदकर मानने को तैयार नही थे। प्रत्येक बात को—'ऐसे क्यो?' की शल्य-चिकित्सा के द्वारा ही मानने की उनकी प्रकृति थी। एक बार पचासो भाई मेरे पास बैठे थे। एक अच्छा-सा प्रसग चल रहा था, इतने मे ही वे बीच मे बोले—मुनिश्री! आपकी सारी बातें, सारे सिद्धान्त अच्छे लगते है, पर एक बात नही जचती?

'क्या'?

उन्होने कहा—मान लीजिये, कि मै और मेरी पत्नी घूमने के लिए गये। मेरी पत्नी का पैर फिसल गया और नहर मे डूबने लगी, तो आप कहते हैं, उसको भी निकालना पाप है (राग है)।

मैंने कहा—मास्टर साहब! कुछ भूल रहे हैं!

'कैसे?'

'हम तो कहते है पत्नी बनाना ही पाप है (राग) है।

उन्होने कहा—'मैं मजबूर हू, यह पाप तो किये बिना नही रह सकता।'

मैंने कहा—'जो वह पाप करेगा, उसे उसके निर्वाह के लिए ऐसे और कई काम करने ही पडेगे। जिन्हे पाप या राग कुछ भी कहिए!'

विषय को स्पष्ट करते हुए मैंने कहा—'जैनदर्शन यह नही मानता कि आप गाय का दूध तो पी जाए और घास देने के समय पाप-भीरु बन जाने का ढोग कर लें। ऐसे पापभीरुओ को गाय रखना उसका दूध पीना आदि तत्सम्बन्धी समस्त कार्यो का परित्याग कर देना चाहिए। जो गाय का दूध पीयेगा उसे गाय को घास खिलाना ही पडता है। राग मे राग का जन्म होता है, पाप मे पाप की परम्परा आगे बढती रहती है। एक पाप से बचने के लिए पाप के मूल को ही काटना पडेगा अन्यथा कैसे बचोगे? उपस्थित भाई और अध्यापक महोदय सुनने मे निमग्न थे। उन सबकी प्रसन्नता यह बतला रही थी, मानो उन्हे पर्याप्त आत्म-सन्तोष मिल रहा है। मैंने कहा—'प्राय. सभी तत्त्ववेत्ताओ का चिन्तन इसी धुरी पर पहुचा

है। देखिये तथागत बुद्ध ने भी तो कहा है—

ये सब किस आग से जल रहे हैं ? राग की आग से द्वेष की आग से और मोह की आग मे ही ये सब जल रहे है। जन्म, जरा, मृत्यु, शोक, परिदेव, दुख, दौर्मनस्य आदि परिणामो से ये सब जल रहे हैं।'[1]

'विराग होने पर ही मनुष्य को ज्ञान उत्पन्न होता है और तभी उसका जन्म-क्षय होता है। ब्रह्मचर्य व्रत की समाप्ति भी तभी होती है। मनुष्य फिर यहा आकर जन्म नही लेता।'[2]

'राग के समान कोई आग नही, द्वेष के समान कोई अरिष्ट ग्रह नही, मोह के समान कोई जाल नही और तृष्णा के समान कोई नदी नही।'[3]

६६ नया दर्शन

मैंने 'अमृत की बूदें' मे कुछ परिभाषाए लिखते हुए पत्रकार के लिए लिखा—

'तुरत चढ़ाते गगन तक तुरत हिलाते नींव।
पत्रकार इस समय के बडे भयानक जीव॥'

पत्रकार इस युग के अजीब व भयानक जन्तु है, ऐसा कइयो का विश्वास है। उनका 'विश्वस्त सूत्र' बडे-बडे विज्ञो के लिए भी अज्ञेय है। उनका सही स्वरूप चतुर्मुख वाले प्रजापति के लिए भी अवाच्य है। लगता ऐसा है उनके प्रश्नो की वैतरणी तरने को असीम-असीम पुण्य सचय करने की आवश्यकता है। एक बार महात्मा गाधी को पत्रकारो ने घेर लिया और लगे प्रश्न पर प्रश्न करने तब बेचारे गाधी बाबा को हैरान होना पडा। एक पत्रकार तो यहा तक पूछ बैठा—'क्या आपको पूरा-पूरा विश्वास है कि आप स्वर्ग मे ही जाएगे ?' गाधीजी ने अपनी अलमस्ती मे कहा—'यह तो मुझे पूरा पता नही, मै स्वर्ग मे जाऊगा या नरक मे फिर भी इतना

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ४७/६

२ वही, पृ० ४८/६

३ वही, पृ० ६१/२६

दृढ-विश्वास है, जहां भी जाऊगा वहा आप लोग अवश्य साथ रहेगे।'

सचमुच ही पत्रकार अपनी शान-बान के निराले होते हैं। क्या का क्या दिखा देना तो उनके बाये हाथ का खेल है।

हिन्दुस्तान वैसे ही ऋषि प्रधान देश है। जितने मुनि, उतने ही मत—दर्शन ! फिर भी पत्रकारो की कृपा से एक नया दर्शन 'हिन्दुस्तान' मे और आ गया'—

'दुनिया मे सबसे आसान चीज क्या है ?

उपदेश देना !

और सबसे कठिन क्या है ?

उपदेशो पर अमल करना।

दुनिया मे सबसे मीठी चीज क्या है ?

प्रशसा।

और सबसे कडवी ?

अपनी ही निदा अपने मुह पर सुनना।

आप चाहते क्या है ?

यही कि कोई मुझे न मारे तो मैं जमाने को मार जाऊ।

और चाहते क्या नही ?

सिर्फ अपयश के सिवा सब कुछ चाहता हू।

आपको तसल्ली किस बात से होती है ?

इससे कि जितने भी परिचित है, वे आकर अपने दुखो का रोना रोए।

और तब आप करना क्या चाहते है ?

केवल मौखिक सहानुभूति प्रकट करना।

तब आपके जीवन का उद्देश्य क्या है ?

सच-सच बताए ?

जी !

दुनिया को मूर्ख बनाना और अपना उल्लू सीधा करना। दुनिया मे

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२, अगस्त, १९६३

गलत कुछ भी नही होता। गलत वही होता है कि जिसका नतीजा खुद को भोगना पडे।

लेकिन खुदी तो अच्छी नही होती ?

क्यो नही होती ? खुदी तो खुदा की बहन है।

बहन-भाइयो मे झगडा होता है क्या ?

होता होगा। लेकिन वह उनका निजी मामला है। उसमे जाने की हमे जरूरत नही।

तो जरूरत किस बात की है ? तो खुदी का और आवश्यकता हो तब खुदा का बेधडक प्रयोग करे।

पर ऐसा करने से खुदा नाराज न होगा ?

नाराज भले ही हो जाए पर नुकसान नही करेगा।

क्यो ?

नाराज सदा अपनो पर ही हुआ जाता है। आपने सुना ही होगा। कोई शायर कह गये है—'वे मुझे तिरछी नजर मे देखते है, देखते तो है ?'

वाह, क्या खूब !

खूबी यह है कि आदमी मे सिवाय भलाई के सभी गुण होने चाहिए।

यानी, भलाई गुण नही है ?

जी हा, दुनिया बदल गई है। उसकी मान्यताए बदल गई है। सिद्धान्त बदल गए है। पुराने लोग अपने अवगुण देखा करते थे। आजकल के लोग अपने मे सद्गुण और दूसरो मे अवगुण देखा करते है। पहले लोग दूसरो पर विश्वास करके उन्हे जीता करते थे। आजकल के लोग विरोधियो पर अविश्वास प्रकट कर उन्हे जीतना चाहते है।

और यह भी तो है कि पहले लोग नेकनामी से भी बचते थे, आजकल के लोग तो बदनामी से भी नही घबराते। कहते है—बदनाम अगर होगे तो क्या नाम न होगा ?

यानी यह तय हुआ कि आज का जमाना तरक्की पर है। आज के लोग साहसी हैं।

इसीलिए तो कहते हैं कि कल के नही, आज के बनो।'

उपदेश दिया गया 'कल के नही आज के बनो' बनना या नही बनना

हाथ की बात थोडे ही है। तथागत बुद्ध ने कहा जो है—'अनुचित और अहितकर कर्मों का करना आसान है, हितकर और शुभ कर्म परम दुष्कर है।"[1]

७० दशहरा

आज दशहरा है, दशहरे के लिए कहा गया—

'सीता हर लावा, बदनीत फल पावा, देखो,
होत दशकठ की फजीती दशरावा मे।"

आज के दिन सैकडो गावो मे लाखो-करोडो व्यक्ति रावण को मारने के लिए इकट्ठे होते है वह भी राम बन कर। राम के लिए तो कहा गया है—

'बहुत राम के नाम, न रावण नाम मिलेगा
किन्तु बहुत हैं रावण, राम न एक मिलेगा।।'

मैने भी आज भोपाल स्टेडियम (उदयपुर) मे देखा, कागजो का एक विशालकाय और भयावना रावण का पुतला बनाया गया था। उसे देखकर मेरे मन मे आया, जिसका पुतला इतना भयावना कल्पित किया गया, वह स्वय न जाने कितना भयावना रहा होगा। उसका शरीर-बल, बुद्धि-बल, सैन्य-बल, सन्तान-बल, कोष-बल सभी सबल थे। काश! फिर भी राजनीति और विज्ञान के गठबन्धन की तरह शूर्पणखा और रावण के अहितकर योग ने उसके चरित्र को निर्बल बना दिया। फलत हजारो वर्षों बाद भी वह दुर्दशा का शिकार हो रहा है।

मेरा मत है—व्यक्ति अपने आप मे न अच्छा होता है, न बुरा। उसे सगति का क्रीतदास कहना ही सगत लगता है। इतना बडा ऐश्वर्यशाली सम्राट् भी जिन बुराइयो मे बदनाम हुआ, उनसे जन-जन बचता रहे। सभवत इसी ओर सकेत करने के लिए दशहरे को सास्कृतिक पर्व का रूप दिया गया है। अब रही परस्त्री की बात, सो उसके लिए तथागत बुद्ध ने कहा था—

१ बुद्धवाणी, पृ० ८६/१३

'परस्त्री गमन करने से अपुण्य-लाभ, बुरी गति, भयभीत (पुरुष) की भयभीत (स्त्री) से अत्यल्परति, यही मिलता है। इसलिए मनुष्य को परस्त्री गमन नही करना चाहिए।'[1]

७१ अलविदा
(शासन की परपरा मे)

तेरापथ मर्यादा-महोत्सव का उपक्रम सचमुच ही महान् आचार्यों की दूरदर्शिता का सुपरिणाम है, वह भी इस युग मे। वास्तव मे ही मर्यादा-महोत्सव सघ-परिमार्जन, सरक्षण के लिए गगास्नान के समान है। उन दिनो के प्रत्येक कार्यक्रम अपने आपमे एक विशेषता सजोये होते है। जन-जन का सबसे प्रमुख आकर्षण होता है—आगामी वर्षावास के लिए साधु-सतियो की नियुक्ति। जब अलग-अलग, दल के अग्रगण्यो के नाम ले-लेकर आगामी विहार का आचार्यप्रवर आदेश देते है वह भी बिना किसी की राय और परामर्श लिये, तब दर्शको को और भी आश्चर्य होता है। चातुर्मास नियुक्ति के बाद मे विहार का दृश्य सामने आता है।

गुरु-शिष्य की विनय और वात्सल्य भरी विदाई की वेला वह तो और भी लुभावनी होती है। मुझे याद है एक बार आचार्यप्रवर ने साधु-सतियो को विदाई सन्देश देते हुए कहा था—'साधुओ! हमारा सौभाग्य है, आज के विषम युग मे हमे ऐसा प्रशस्त पथ मिला है, इसे पाकर हम कजूस न बने। जो हमे मिला है, उसे हम जन-जन तक पहुचाए। जाति, वर्ण, लिग और रग के सकुचित घेरे मे धर्म बधा नही रह सकता। हम तो प्रसरणशील हैं। आज उसके प्रचार और प्रसार के लिए स्वर्णिम अवसर है। हम अपनी सुख-सुविधा को गौण करके भी नैतिक अभियान का नाद जन-जन मे फूके। मुझे सघ का भविष्य उज्ज्वल दीख रहा है। जनता को नैतिकता की भूख है, तुम आनन्द मगल के साथ प्रस्थान करो, गावो और शहरो मे घूम-घूमकर इस भूख को मिटाओ और मूर्छित मानवता को जगाओ।'

---

१ बुद्धवाणी, पृ० ६५/५६

आचार्यप्रवर के मुख से जब मैंने यह सन्देश सुना तब ढाई हजार वर्ष पहले भिक्षुओ को दिया गया तथागत बुद्ध का वह सन्देश याद आ गया—

'भिक्षुओ ! अब तुम लोग घूमो, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, देवता और मनुष्यो के कल्याण के लिए घूमो। कोई दो भिक्षु एक तरफ न जाए। तुम उस धर्म का उपदेश करो, जो आदि मे कल्याणकारी है, मध्य मे कल्याणकारी है और अत मे कल्याणकारी है।'[1]

'भिक्षुओ ! सोचो मत ! बस चलते रहो ! जहा-जहां तुम्हारे पैर बढेगे राह अपने आप बनती जायेगी। यदि तुम बैठकर सोचने लगे तो जीवन-भर सोचते ही रह जाओगे। कर्म करने के लिए बस चलते रहो, रुको मत।'[2]

□□

१ बुद्धवाणी ,पृ० १०६/१४५

२ मज्झिम निकाय, २९